समीक्षा-शास्त्र

[भारतीय तथा पाश्चात्य]

लेखक

डा० दशरथ ओझा

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट

दिल्ली

3049

विषय-सूची

प्राक्कथन पृ० १–६

पहला अध्याय

समाज और साहित्य पृ० ७–१७

मार्क्सवाद और भारतीय साहित्य—साहित्य तथा विज्ञान-दर्शन का अन्तर—भारतीय और यूरोपीय साहित्य का इतिहास—समाज का प्रभाव साहित्य पर—साहित्य और वाद—नाटक और सामाजिक जीवन—समाज और यथार्थवाद।

दूसरा अध्याय

काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पृ० १८–३८

व्यक्तित्व और समाज—कवि-कृति में कवि-व्यक्तित्व—स्थायी और अस्थायी साहित्य—पात्र में व्यक्तित्व—अति मानव में मानव व्यक्तित्व—पात्र मे कवि का जीवन और व्यक्तित्व—व्यक्तित्व में असम्बद्धता—गीतिकाव्य में कवि का व्यक्तित्व—व्यक्तित्व की महत्ता—व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—व्यक्तित्व और चरित्र—चरित्रनिर्माण के उपकरण—चरित्र और व्यक्तित्व का अन्तर—व्यक्तित्व और फ्रायड—व्यक्तित्व के नियम में एमर्सन और गेटे का मत—व्यक्तित्व की व्यापकता—व्यक्तित्व और आचार्य कुन्तक - व्यक्तित्व-दर्शन—कला की विभिन्न श्रेणियाँ—तुलसी का व्यक्तित्व।

तीसरा अध्याय

काव्य के रूप पृ० ३९–६०

(भारतीय आचार्यों के मत से)

काव्य का स्वरूप—काव्य का प्रयोजन—काव्य के भेद—उत्तम काव्य—मध्यम काव्य—अधम या चित्र काव्य—वध के विचार से भेद—रस—आचार्य भट्ट, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, रस की निष्पत्ति—रस के अवयव—विभाव—अनुभाव—स्थायी भाव—सचारी भाव—काव्य की आत्मा—अलकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय,

रसो की सख्या—रस-राज, रस-विरोध, भाव—करुणादि रसो में आनद कैसे ?—गुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद—रीति—वैदर्भी, गौडी, पाचाली, लाटी, वृत्ति—वृत्ति और रीति का भेद—कैशिकी, सात्वती, आरभटी, भारती—दोष—तीन प्रकार का रसाभिघात, विविध आचार्यो के मत से दोप-सख्या ।

चौथा अध्याय

काव्य मे जीवन की व्याख्या पृ० ६१–७५

काव्य और दर्शन—काव्य तथा अन्य कलाएँ—जीवन-व्याख्या की पद्धति—मानव जीवन मे नियति का स्थान—काव्य में प्रेम की व्याख्या—सौन्दर्य-वर्णन—काव्य में प्रकृति की व्याख्या—काव्य मे सामाजिक जीवन की व्याख्या ।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी कविता का वर्गीकरण पृ० ७६–८३

स्वरूप-भेद के अनुसार वर्गीकरण—रसकाव्य, बोधकाव्य, नीतिकाव्य, काव्याभास—विषय-प्रधान काव्य, विषयि-प्रधान काव्य—महाकाव्य, नाट्य-काव्य, प्रकृतिकाव्य, उपदेशात्मककाव्य, सौन्दर्य-चित्रणात्मककाव्य, प्रीति-काव्य, प्रकृतकाव्य, आदर्शात्मक काव्य—महाकाव्य की विशेषताएँ—प्रबन्धकाव्य, वर्णनात्मककाव्य, विचारात्मककाव्य—नाटकीयकाव्य—शोकगति—गीतिकथा—गीतिका (सौनेट)—परिवृत्ति काव्य—सबोध गीतिकाव्य—मुक्तक काव्य—प्रगीत काव्य—गीति काव्य का लक्षण— गीति-काव्य का सक्षिप्त इतिहास ।

छठा अध्याय

काव्य का कलात्मक विश्लेषण पृ० ८४–१०९

गीतिकाव्य का इतिहास—विद्यापति, कबीरदास, सूर-तुलसी-मीरा, हरिश्चन्द्र युग—द्विवेदी युग—छायावादी गीतिकाव्य की प्रेरणा-भूमि—छायावाद की प्रयोगावस्था (सन् १९०५–२० तक)—छायावाद का स्पष्ट रूप—(सन् १९२५ तक)—छायावाद काव्यान्दोलन—नवीन प्रगीतमुक्तक—छायावाद का नामकरण—छायावाद और स्वच्छन्दतावाद—स्वच्छन्दतावाद की विशेपता—स्वच्छन्दतावाद और छायावाद मे अन्तर—छायावादी और रहस्यवादी गीतो में साम्य—छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर—छायावादी गीतो का वर्गीकरण—सौन्दर्यवर्णन के गीत, आध्यात्मिक प्रेम-गीत, जीवन-मीमासा सम्बन्धी गीत, प्रकृति सम्बन्धी गीत, राष्ट्रीय गीत, रहस्यवादी गीतो का वर्गीकरण—दाम्पत्य-प्रेम सम्बन्धी गीत, ज्ञान-प्रधान गीत, साधनात्मक गीत, भक्ति सम्बन्धी गीत, प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद—प्रगति-

वाद—छायावाद और प्रगतिवाद का अन्तर—प्रगतिवादी का काव्यालबन, प्रगतिवादी साहित्यकारो के दो वर्ग—प्रगतिवाद का मनोवैज्ञानिक निदर्शन—प्रगतिवाद का भविष्य—प्रयोगवाद—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—प्रयोगवाद के स्पष्ट स्वर, छायावाद और प्रयोगवाद मे अन्तर, प्रयोगवाद की भाषा-शैली, छन्द-विधान ।

सातवाँ अध्याय

नाटक पृ० ११०—१२९

(भारतीय आचार्यो के मत से)

रूपक और उपरूपक—रूपक के दस भेद—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अक, वीथी, प्रहसन—उपरूपक—नाटिका, त्रोटक, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, सलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश—नाटक के तत्त्व—कार्य-अवस्थाएँ—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम—अर्थ प्रकृति—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—पच-सन्धि—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—श्राव्य और सूच्य—प्रस्तावना के पाँच भेद—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक, अवगलित—नाटक मे वर्जित दृश्य—नेता—नायिका—अन्यपात्र—वृत्ति—कथोपकथन—सकलनत्रय—रस—नाटको की उत्पत्ति—प्रेक्षागृह—चलचित्र (सिनेमा) ।

आठवाँ अध्याय

रंगमंचीय नाटक पृ० १३०—१४६

भरत मुनि और अरिस्टाटल—दुखान्तनाटक—साहसिक दु खान्तनाटक, आतक-पूर्ण दुखान्तनाटक, पारिवारिक दुखान्तनाटक, अतिदुखान्तनाटक—सुखान्त-नाटक—उदात्त सुखान्तनाटक, प्रहसन, रोमास सुखान्तनाटक, व्यग्य सुखान्त-नाटक—इतिवृत्त की छ अवस्थाएँ—सूत्रपात, सघर्ष की वृद्धि, चरमसीमा, ह्रास, अवसान, पतन-शान्ति—सघर्ष—प्रतिकथानक—सयोग, अन्तर्द्वन्द्व—परिस्थिति—प्रगति—चरमसीमा, अन्तिम अवस्था—भारतीय रगमच का विकास—पूर्व-कालीन रगमच, मध्यकालीन रगमच, आधुनिक रगमच—रेडियोनाटक—रेडियो-रूपक, रेडियोफीचर, ध्वनिनाट्य, स्वोक्ति, फैन्टेसी, ध्वनि-गीतिरूपक, रिपोर्ताज, जन-नाटक, व्यग्य—रगमच के नाटक और रेडियो नाटक—रेडियो नाटक का भविष्य ।

नवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यास और उसके तत्त्व पृ० १४७—१६४

उपन्यास का महत्त्व—उपन्यास की भारतीय परम्परा—पाश्चात्य परम्परा—उपन्यास की व्युत्पत्ति—उपन्यास की विविध परिभाषाएँ—उपन्यास के तत्त्व—कथावस्तु—चरित्र-चित्रण—कथोपकथन— वातावरण— उद्देश्य—भाव और रस—शैली ।

दसवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यास का वर्गीकरण और मूल्यांकन

पृ० १६५—१७३

वहिर्मुखी उपन्यास, घटना-प्रधान—इतिहास-प्रधान—समस्या-प्रधान—अन्तर्मुखी-उपन्यास—मनोविश्लेषण-प्रधान—सिद्धान्त प्रधान ।

ग्यारहवाँ अध्याय

हिन्दी निबन्ध के तत्त्व और उसका वर्गीकरण

पृ० १७४—१८६

सामान्य परिचय, निबन्ध के तत्त्व । निबन्धो का वर्गीकरण—कथात्मक निबन्ध—वर्णनात्मक निबन्ध—चिन्तनात्मक या विचारात्मक निबन्ध—भावात्मक निबन्ध ।

बारहवाँ अध्याय

हिन्दी कहानी के तत्त्व और कहानीकार

पृ० १८७—२९६

कहानी के तत्व—कथावस्तु—प्रारम्भ—कहानी में कथा-वस्तु-विकास—कौतूहल और सघर्ष—चरम सीमा—चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण के प्रकार—वातावरण—उद्देश्य—शैली ।

तेरहवाँ अध्याय

आत्मचरित के तत्त्व पृ० १९७—२०३

उपन्यास और जीवन-चरित्र में अन्तर—जीवनी और इतिहास—जीवनी का साहित्यिक मूल्य—जीवनी की शैली—जीवनियो के प्रकार—आत्मकथाएँ—जीवनी-साहित्य का इतिहास—आत्म-सस्मरण ।

चौदहवाँ अध्याय

आलोचना का महत्त्व पृ० २०४–२१६

परिभापा—समालोचक के गुण—समीक्षा की प्रणालियाँ—शास्त्रीय आलोचना—व्याख्यात्मक आलोचना—तुलनात्मक आलोचना—निर्णयात्मक आलोचना—मनोवैज्ञानिक आलोचना—सैद्धान्तिक समीक्षा—प्रगतिवादी समीक्षा ।

प्राक्कथन

आज का वैज्ञानिक युग प्रत्येक कार्य को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। साहित्य के विद्यार्थियो से प्रायः इसके अनुशीलन की सार्थकता के सम्बन्ध में पूछा जाता है, किन्तु यह प्रश्न कोई नया नही, शताब्दियो से उपयोगितावादी यह प्रश्न पूछते चले आ रहे हैं। इस असार दु खमय ससार-वृक्ष में सार और सुखद फल की खोज करते-करते विद्वानो ने कहा है कि इस विप-वृक्ष में केवल दो मधुर फल हैं[1]—(१) काव्मामृत का रसास्वादन और(२) सज्जनो का सहवास। तात्पर्य यह है कि काव्यामृत का आस्वादन करने वाले सहृदय ही इस रस का रहस्य जानते हैं, और इससे वंचित रहने वाले इसको अनुपयोगी मानते हैं। इसी कारण साहित्य-विद्या सहृदयो की विद्या मानी गई है और अरसिको के सम्मुख काव्य का निवेदन निपिद्ध समझा जाता है। जैसा कि प्रसिद्ध है—"**अरसिकेषु कवित्व निवेदन, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।**" आचार्यों ने सहृदय अथवा रसिक की परिभापा करते हुए लिखा कि "काव्यानुशीलन के निरन्तर अभ्यास से मन-मुकुर के निर्मल हो जाने पर जो वर्णनीय विपय में तन्मय होने के योग्य हैं वे ही हृदय—सवादशाली सहृदय हैं।"[2]

ध्वन्यालोककार सहृदय को ही भावुक, विदग्ध, सचेतस अथवा साहित्यिक कहते हैं। यद्यपि साहित्यिक शब्द आजकल प्राय अंग्रेजी (Literature) के लिए प्रयुक्त होने से नया प्रतीत होता है, किन्तु इसका उल्लेख अति प्राचीनकाल से विविध ग्रन्थो में पाया जाता है।

साहित्य शब्द की प्राचीनता

साहित्य शब्द की उत्पत्ति का मूल सर्वप्रथम व्याकरण-शास्त्र मे मिलता है। राजशेखर के समय तक तो इस शब्द का काव्य के रूप में अर्थ अवश्य ही बन गया था, इससे पूर्व भी रहा हो तो आश्चर्य नही। किन्तु निश्चय रूप से

१—ससार-विषवृक्षस्य द्वे एव मधुरे फले।
काव्यामृतरसास्वाद सगम. सज्जनै' सह॥

२—येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनो-मुकुरे।
वर्णनीयतन्मयीभवयोग्यता ते हृदयसवादभाज सहृदया॥

—ध्वन्यालोक

काव्य-मीमासा में इस शब्द का प्रयोग साहित्य-विद्या अथवा काव्य-शास्त्र के अर्थ में होने लगा था। इस शब्द के नाम पर सर्वप्रथम साहित्य-शास्त्र का उल्लेख साहित्य-मीमासा के रूप में पाया जाता है। इस ग्रन्थ को सम्भवत रुय्यक या मखक नामक आचार्य ने विरचित किया था। साहित्य शब्द के आधार पर साहित्य शास्त्र और भी लिख गए होंगे, किन्तु आज दिन आचार्य विश्वनाथ कृत्त साहित्य-दर्पण प्रसिद्ध काव्य-शास्त्र माना जाता है।

साहित्य का लक्षण

साहित्य शब्द की उत्पत्ति सहित शब्द से जान पडती है। सहित का अर्थ है दो का योग; अथवा धीयते अर्थात् जो धारण किया जाय वह है हित। हित के साथ जो रहे वह है सहित और उसका भाव है साहित्य। अथवा सहयोग में अन्वित का भाव साहित्य। **'सहितयोर्भाव साहित्यम्'** के आधार पर कहा गया है कि शब्द और अर्थ दोनो के मेल को साहित्य कहते हैं। ठीक इसी प्रकार से मिलती-जुलती काव्य की परिभाषा आचार्य भामह ने भी लिखी है। काव्यादर्श मे भामह लिखते हैं—**'शब्दार्थौ साहितौ काव्यम्'**। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि शब्द और अर्थ दोनो मिलकर साहित्य बनता है तो इन दोनो में प्रधानता किस को दी जाय—शब्द को या अर्थ को ? कवि-पुगव माघ ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—**"शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।"** विद्वान् सत्कवि के समान शब्द और अर्थ दोनो की अपेक्षा रखते हैं।

इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत दिया। किसी ने शब्द पर वल दिया किसी ने अर्थ पर, किन्तु कुन्तक नामक आचार्य का मत इन दोनो से भिन्न है। वे कहते हैं कि यद्यपि कतिपय विद्वान् कवि-कौशल-कल्पित-कमनीयातिशय शब्द को काव्य मानते हैं और दूसरे सज्जन 'रचनावैचित्र्य चमत्कारि' को काव्य समझते हैं, किन्तु मेरे मत से दोनो पक्ष निर्बल हैं। वास्तव में जिस प्रकार प्रत्येक तिल से तेल निकलने पर तेल की धारा निकलती है उसी प्रकार दोनो—शब्द और अर्थ—के चमत्कार से काव्य वनता है। आचार्य जगन्नाथ ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि "रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्द"[1] काव्य कहलाता है। आचार्य शब्द को ही काव्य के लिए मुख्य मानते हुए युक्ति देते हैं कि लोगो से सुना जाता है—हमने काव्य पढा किन्तु उसका अर्थ नही समझा।

१—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्।

इसके विपरीत दुर्गाचार्य का मत है कि "अर्थ ही प्रधान है, शब्द तो उसके गुण के अनुसार निर्मित होता है।"[1] अनेक प्रकार से ऊहापोह करते-करते विद्वान् इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि साहित्य या काव्य के शब्द और अर्थ मे एक विशेषता होती है जो अन्यत्र उपलब्ध नही होती। इसी विशेषता की समस्या को सुलझाना काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र का प्रधान लक्ष्य होता है। साहित्य-शास्त्रियो ने इस विशेषता का परीक्षण पाँच प्रकार से किया है—

"विशेष शब्दार्थ काव्य है। शब्द-अर्थ का वैशिष्ट्य धर्ममुख, व्यापारमुख, व्यंग्यमुख, अलकार-गुण, भणिति-वैचित्र्य के दृष्टिकोण से परखा जाता है। उद्भट ने धर्ममुख को, वामन ने व्यापारमुख को, कुन्तक (वक्रोक्तिकार) ने व्यंग्यमुख को, भट्टनायक ने अलकार-गुण को और आनन्दवर्धन ने भणिति-वैचित्र्य को मुख्य माना है।"[2]

इन सब उद्धरणो के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि साहित्य मे चारुता का होना आवश्यक है। कुन्तक ने तो स्पष्ट कह दिया कि "यद्यपि वाच्य-वाचक-सम्बन्ध साहित्य के लिये अनिवार्य होता है किन्तु इनमें विशेषता का होना ही साहित्य को अभिप्रेत है।"[3]

शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध दिखाते हुए वैयाकरणो ने विविध प्रकार से छानबीन की। उन्होने शब्द का विश्लेषण और वर्गीकरण करते हुए सज्ञा, क्रिया आदि भेद-उपभेद किए। यह कार्य बहुत पहले प्रारम्भ हो गया था। किन्तु अर्थ के भेद-प्रभेद का शोध सर्वप्रथम उद्भट ने किया। उन्होने सर्वप्रथम यह घोषित किया कि शब्द का अभिधार्थ के अतिरिक्त एक और अर्थ होता है।

१—अर्थो हि प्रधानम्, तद्गुणः शब्द।

—निरुक्त

२—इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापार-मुखेन, व्यंग्य मुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलकारतो गुणतोवेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेषु आद्यःउद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पचम. आनन्दवर्धनेन।

—(समुद्रबन्ध)

३—ननु च वाच्य-वाचक-सम्बन्धस्य विद्यमानत्वान् एतयो. न कथचिदपि—साहित्य-विरहः, सत्यमेतत्। किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्॥

—(कुन्तक)

इसी को उद्भट गौरा अर्थ और वामन लक्षरिक अर्थ के नाम से पुकारते हैं। आचार्यों ने कुछ दिन के बाद तीसरा भेद किया जिसे वे ध्वन्यमान अर्थ कहने लगे, इस प्रकार शब्द और अर्थ के मिलन में क्रमिक विकास के द्वारा साहित्य काव्य का रूप धारण करता गया। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य प्रारम्भ में व्याकरण और तर्क के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सूचित करता था, किन्तु कालान्तर मे काव्य के उन सभी गुणो का परिचायक बन गया जो उसे (काव्य को) काव्येतर साहित्य से पृथक् करते हैं। इस प्रकार साहित्य काव्य का पर्याय बन गया। और जिस प्रकार व्याकरण, तर्क, मीमामा आदि शास्त्र मान्य बन गये उसी प्रकार कालान्तर मे काव्य-शास्त्र भी शास्त्र या विद्या नाम से पुकारा जाने लगा। राजशेखर कहते हैं, "पचमी साहित्य-विद्या इति यायावरीय। सा हि चतसृणामपि विद्याना निष्यन्द।" "पचमी साहित्य-विद्या मे अन्य चार विद्याओ का सार है।" इस विद्या की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि साहित्य विद्या का अर्थ है—शब्द और अर्थ को सहभाव से यथावत् रखने वाली विद्या।[1]

साहित्य-विद्या और काव्य-पुरुप की कल्पना स्त्री-पुरुष के रूप में करते हुए राजशेखर ने इनका विवाह भी करा दिया है।

तदेतस्य (काव्य पुरुषस्य) वशीकरणं कामपिस्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्ती साहित्य-विद्या वधूमुदपादयत्।

"काव्य पुरुप को वश मे करने के लिए किसी स्त्री की रचना करनी चाहिए। यह विचार कर साहित्य-विद्या रूपी वधू को उत्पन्न किया।" कालिदास ने भी वाक् और अर्थ का सम्बन्ध प्रकट करते हुए कहा कि वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए—(वचन और अर्थ का तात्पर्य समझने के लिए), काव्य और अर्थ इस प्रकार सपृक्त और पूज्य हैं, जैसे पार्वती और परमेश्वर जगत के पितर के रूप में पूज्य हैं।[2]

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अर्घ-नारीश्वर महादेव का सम्बन्ध नित्य है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। इसी प्रकार का मत योरोप के आचार्य कार्लाईल का भी है। वे कहते हैं कि देह और आत्मा, शब्द

१—**शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य-विद्या।**

—काव्य-मीमासा

२—वागर्थाविव संपृक्तौ, वागयप्रतिपत्तये।
जगत पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ॥

और अर्थ यहाँ-वहाँ (सर्वत्र) आश्चर्य रूप से साथ-साथ चलते हैं ।[1]

आचार्य कुन्तक ने साहित्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ का जो शोभा-शाली सम्मिलन होता है, वही साहित्य है । यह अभिनव सम्बन्ध तभी मनोरम बनता है जब कवि अपनी प्रतिभा से उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्द—न अधिक, न न्यून—रखकर अपनी रचना को शोभाशाली बना पाता है ।[2]

साहित्य का यह तात्पर्य नही समझना चाहिए कि जो कुछ लेख-बद्ध हो जाय वह सभी साहित्य के अन्तर्गत है । जिस रचना मे साहित्य का उद्घाटन हो, जिसकी भापा प्रौढ, परिमार्जित एव सुन्दर हो, जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो, जिसमें जीवन की सच्चाइयाँ और अनुपत्तियाँ व्यक्त की गई हो, वही साहित्य है ।—प्रेमचन्द

साहित्य और कला—

कला की परिभापा देते हुए एक आचार्य कहते हैं कि स्व को कलन करना ही कला है । कला क्या करती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एक आचार्य कहते हैं कि रचना का जो कलन प्रमाता में-प्रामाणिक व्यक्ति में—अपने रूप को कलित (विकसित) करे अथवा वस्तुओ को आवेशित करे, उसे कला कहते हैं ।[3]

यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है कि कला से हमे सुख मिलता है । सुख मिलता क्यो है ? कारण यह है कि कला-कृति में कलाकार की अनुभूति का—अपने अन्त करण का—सुख समाया हुआ है । भवभूति कहते हैं कि मै उस वाणी की वन्दना करता हूँ जिसमें आत्मा की कला अमृत रूप से विद्यमान है ।[4]

रवीन्द्र ठाकुर प्राय· कहा करते थे कि कला मे कलाकार अपने को अभिव्यक्त करता है ।[5]

1—For body and soul, word and idea go strongly together here and everywhere — The Hero as poet

२—साहित्यमनयोः शोभाशालिता प्रति काऽप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः ।।—वक्रोक्ति जीवित

३—कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तूनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला ।
—शिवसूत्रविमर्शिनी ।

४—वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मन कलाम् ।
—उत्तर रामचरित

5—In art man reveals himself — What is Art.

अब देखना यह है कि क्या काव्य को भी कला सज्ञा दी जा सकती है। 'ललित विस्तार' नामक ग्रन्थ मे ८६ कलाओ की वृहद् सूची मिलती है जिसमे काव्य-व्याकरण (काव्य की व्याख्या करना) और क्रिया-कल्प (काव्य और अलकार) अथवा (काव्य करण विधि) का नामोल्लेख मिलता है।

'प्रबन्ध कोष' ने ७२ कलाओ का उल्लेख किया है जिसमें काव्य और अलकार भी परिगणित हैं। कतिपय ऐसे भी आचार्य हैं जिन्होने कलाओ से पृथक् काव्य या साहित्य को स्थान दिया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कला-विलास में कही काव्य, अलकार या साहित्य का नाम नही लिखा है।

उक्त मतो की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य भी विलक्षणता, चमत्कार एव कल्पना-विलास के कारण कलाओ में परिगणित हुआ अन्यथा काव्य और कला को हमारे देश में पृथक्-पृथक् ही समझा जाता था। तथ्य तो यह है कि काव्य कला-पक्ष से समन्वित रहते हुए भी कला के स्तर से ऊपर है। कला उपविद्या है किन्तु काव्य विद्या है, उससे भी महान् है। आचार्य भामह कहते हैं कि ऐसा कोई शब्द, वाच्य, विद्या और कला नही जो काव्य का अग होकर न आए। अहो ! कवि का उत्तरदायित्व कितना महान् है।[1] अर्थात् काव्य अगी है, कला उसका एक अग है। भला अग अगी कैसे हो सकता है।

पश्चिम में काव्य को कला के अन्तर्गत माना गया है।[2]

१—न तच्छब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भार. महान् कवेः ॥

—काव्यालकार

पहला अध्याय

साहित्य और समाज

स्काटजेम्स ने पाश्चात्य आलोचना-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि एक युग था जब आलोचना के क्षेत्र में अरिस्टाटल के सिद्धान्त उद्धृत किये जाते थे किन्तु अब मैथ्यू आरनोल्ड की विश्लेषण-पद्धति मान्य बन गई है। उक्त दोनो आलोचको के दृष्टिकोण मे अन्तर है। अरस्तू आलोचक का सम्बन्ध कला से जोडता है और आरनोल्ड आलोचक का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से जोडता है।

आरनोल्ड ने साहित्य, साहित्यिक और आलोचक का सम्बन्ध समाज से इस रूप में जोड दिया, जिसकी झलक इससे पूर्व दिखाई नही पडती। आज का साहित्यिक और आलोचक काव्य के माध्यम से समाज की मनोवृत्तियो एव उसके आचार-विचारो की आलोचना करना चाहता है।

अरिस्टाटल की पद्धति का अनुयायी आलोचक, कवि एव कलाकार से सहानुभूति रखता था, किन्तु आरनोल्ड का मतानुयायी मुख्यतया समाज के प्रति अपना कुछ कर्त्तव्य समझकर आलोचना करता है। वह ऐसी उर्वरा भूमि प्रस्तुत करना चाहता है, जिसमें समाज में बीज रूप से उपलब्ध साहित्यिक मौलिकता फल-फूल सके। वह समाज में एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहता है, जिसमें कला और कलाकार मानव-जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर कर सकें।

बीसवी शताब्दी में आलोचना की इस अभिनव पद्धति का निखरा रूप दिखाई पडा और इसका प्रभाव भारत के आलोचको और कवियो एव कलाकारो पर अनिवार्य रूप से पडा। हमारे देश में सामाजिक सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन के अनुकूल होने के कारण इसका प्रभाव अत्यन्त व्यापक हुआ। समाज और साहित्य के इस नए सम्बन्ध को हम यहा विस्तार से देखेंगे।

हमारे राष्ट्र में एक नयी चेतना आ गई है। आर्थिक वैषम्य समाज की आंखो में बुरी तरह खटकने लगा है। हमारे राष्ट्र का आदर्श भी समाजवाद पर

निर्भर माना जा चुका है । अब यह प्रश्न और भी महत्त्व का बन गया है कि साहित्य और समाज में क्या सम्बन्ध है । इस प्रश्न के साथ अनायस ही सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्क्स का नाम जोडा जाता है । मार्क्स ने अर्थ-योजना के आधार पर जीवन के प्राय सभी क्षेत्रो में जो क्रान्ति उत्पन्न की उसका प्रभाव विश्व पर पडना स्वाभाविक था । मार्क्स की अर्थ-योजना को केन्द्र बनाकर साहित्यिक क्षेत्र में भी उथल-पुथल मची । रूस के विद्वानो ने समाजवादी-नीति को केन्द्र मानकर प्रचुर साहित्य प्रस्तुत किया ।

मार्क्सवाद और भारतीय साहित्य

मार्क्सवाद के आधार पर निर्मित साहित्य को आदर्श मानकर यदि हमारा साहित्य विरचित हो तो उसकी क्या गतिविधि होगी ? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है । कुछ समीक्षको का मत है कि ऐसा साहित्य भले ही भारत के आर्थिक वैषम्य को कुछ सीमा तक मिटाने वाला हो किन्तु वह स्थायी नही बन सकता । वह प्रचारक साहित्य माना जायगा । कारण यह है कि जब साहित्य राजनीति के प्रचार-कार्य में लग जाता है तो वह अपने शाश्वत-धर्म से च्युत हो जाता है। और उसमें स्थायित्व नही रहता । इसके प्रतिकूल भारतीय साहित्य जो जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपो का सजीव चित्रण किया करता है, वह अपनी दीर्घ परम्परा को अविच्छिन्न बनाए रखने मे समर्थ होता है । यदि साहित्य भी राजनीतिक प्रचारको के हाथ की कठपुतली बन गया और अपने चिरन्तन धर्म से विमुख हो गया तो वह व्यापक न बन कर सकीर्ण हो जायगा । इस प्रकार वह समाज से स्थायी सम्बन्ध न बना पाएगा ।

प्रेमचन्द जी कहा करते थे "साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है । जब कोई लहर देश मे उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओ के कष्टो से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन मे भी व्यापकता होती है । वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है ।"

तात्पर्य यह है कि जिस साहित्य में देश की स्थिति दर्शाने का प्रधान उद्देश्य होगा और साहित्य की सार्वभौम भावना गौण स्थान धारण कर लेगी, वह साहित्य तत्कालीन समाज को भले ही क्षणिक उत्तेजना प्रदान करे, किन्तु स्थायी साहित्य नही बन सकता । समाज की स्थिति में परिवर्तन होते ही वह पुराना पड जाता है । और सच्चा साहित्य वह है जो कभी पुराना न पडे । उसमें ऐसी व्यापकता हो जो प्रत्येक युग के सहृदय को मुग्ध बना सके ।

साहित्य तथा विज्ञान-दर्शन का अन्तर—

साहित्य की विशेषता दर्शन और विज्ञान से इसी कारण अधिक मानी जाती है कि ये दोनो समय की गति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं क्योकि केवल बुद्धि के साथ इनका सम्बन्ध है। किन्तु साहित्य प्रत्येक युग के लिए समान रूप से आनन्द-दायक होता है और हृदय का स्पन्दन सदा एक-सा रहता है। उसका रहस्य यह है कि वह हृदय का विषय है। हमारे अन्त.करण में उठने वाली आशा और निराशा, हर्ष और विषाद, क्रोध और क्षमा की लहरियाँ सहस्रो वर्षो से एक समान हिलोरे ले रही हैं। वाल्मीकि और व्यास से आज तक के मानव-मानस में वे उसी प्रकार से किल्लोले कर रही हैं।

हमारे मनोविकारो में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं—सद्वृत्तियाँ और असद्वृत्तियाँ। साहित्य हमारे मनोविकारो का रहस्योद्घाटन करके सद्वृत्तियो को जगाता है और असद्वृत्तियो को नटखट बालक के समान दुलार-पुचकार कर राह पर लाता है। इसकी एक विशेषता है कि जहाँ ज्ञान और उपदेश, नीति और धर्म, डाँट और फटकार आदि युक्तियाँ असद्वृत्तियो को सुधारने में असफल हो जाती हैं वहाँ साहित्य हृदय की तन्त्री को झकृत करके मधुर सगीत से इन असद्वृत्ति रूपी नागिनो को वशीभूत कर लेता है, और फिर उनके विषाक्त दाँतो को उनकी मस्ती की स्थिति में अपनी जादू की छडी के बल से धीरे से निकाल लेता है। जिस समाज में ऐसा साहित्य रचा जाता है वह समाज विजयी होता है, उसकी शक्ति अपरिमेय होती है, और वह निष्ठुर से निष्ठुर शत्रु को भी कोमल बना सकता है।

हमारे भारतीय इतिहास में नादिरशाह कठोरता की मूर्त्ति समझा जाता है। उसे भी इस जादू ने मोहित कर लिया। कहा जाता है कि नादिरशाह जब दिल्ली में कतलेआम करा रहा था उस समय दिल्ली के बादशाह शाहआलम के हाथ-पाँव फूल गये थे। नादिरशाह की क्रोधाग्नि निरीह नर-नारियो को जला-जलाकर राख कर रही थी। उस दावाग्नि को शान्त करने का साहस किसी को नही हो रहा था। जो भी सामने आता, तलवार के घाट उतारा जाता। दिल्ली में खून की नदी बह रही थी। नादिरशाह के सेनानायक भी यह काण्ड देखकर चकित रह गये, किन्तु किसी का साहस न होता कि उसकी आज्ञा के विरुद्ध एक शब्द भी बोले।

दिल्ली के बादशाह का एक मन्त्री साहित्यिक था। उससे यह हत्याकाण्ड असह्य हो उठा और अपनी हथेली पर जान रखकर, उसने नादिरशाह से प्रार्थना की—"आपके प्रेम की तलवार ने अब किसी को जीवित न छोडा। अब तो

आपके लिए एक ही उपाय है कि आप मुर्दों को फिर जीवित करदे और उन्हे फिर मारना प्रारम्भ कर दें।"[१] इसका प्रभाव, हत्यारे नादिरशाह पर इतना गहरा पडा कि उसने सर्ववध की आज्ञा वन्द करदी और हत्याकाड रुक गया। समाज सर्वनाश से बच गया। तलवार को वाणी से हार खानी पडी। समाज की रक्षा साहित्य ने की।

निष्कर्ष यह निकला कि साहित्य की जो शक्ति चिरन्तन सौन्दर्य से हृदय के तारो को स्पर्श करके भावो को स्पन्दित करती है, वही सामाजिक आदर्शों की स्थापना करके सामाजिक जीवन का निर्माण करती है। जिस देश का जैसा साहित्य होगा वैसा ही वहाँ का समाज बनेगा। साहित्य की प्रेरणा से समाज प्रेरित होता है। साहित्य.समाज की नौका का कर्णधार है। वही सशक्त होने पर समाज-नौका को जीवन-सरिता में सचरणशील बनाता है और उसी के अशक्त होने से समाज-तरणी तिरोहित हो जाती है।

भारतीय और योरोपीय साहित्य का इतिहास—

प्रेमचन्द जी ने एक बार भारतीय और यूरोपीय साहित्य की तुलना करते हुए कहा था कि "यूरोप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ सघर्ष पायेंगे। कही खूनी काण्डो का प्रदर्शन है, कही जासूसी कमाल का। जैसे भारी सस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कही सीमा नही, नित्य दगे, नित्य लडाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। · साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नही लगते।"

साहित्य एक आदर्श स्थापित करता है और समाज उसका अनुसरण। जिस देश का जैसा साहित्य होता है उसका वैसा समाज बनता है। भारतीय साहित्य का आदर्श त्याग और तपस्या है, यूरोप का परिग्रह और सुख। भारतीय माया से मुक्ति में जीवन की सफलता मानता है और यूरोप अधिकार और उसके भोग में। हमारे आदर्श है व्यास और वाल्मीकि, सूर और तुलसी। यूरोप के आदर्श हैं होमर और वर्जिल, शेक्सपियर और मिल्टन।

समाज का प्रभाव साहित्य पर

यहाँ यह प्रश्न आता है कि क्या समाज साहित्य का सदा अनुवर्त्ती रहता

---

१. "कसे न मांद कि दीगर ब तेग़े नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िन्दी कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।"

है अथवा उस पर अपना भी प्रभाव डाल सकता है ? यह सत्य है कि कवि भी समाज का अग है। वह भी सामाजिक इकाई होने के नाते समाज से सर्वथा अविच्छिन्न नही है। सामाजिक क्रान्तियो और परिवर्त्तनो का प्रभाव उस पर पडना अवश्यम्भावी है। वह उनसे वच कैसे सकता है ! किन्तु यह भी सत्य है कि कवि इन सस्कारो से अनुप्राणित होता हुआ सोचता-समझता और अनुभव करता है। अत उसके अनुभव सामाजिक क्रान्तियो और परिवर्त्तनो से सर्वथा निरपेक्ष हो कैसे सकते हैं ! और कविता है भी क्या ? वह कवि के पुंजीभूत सस्कारो और अनुभवो की अभिव्यक्ति ही तो हैं। यदि कवि की अनुभूतियाँ सामाजिक उथल-पथल से निर्मित होती हैं तो रूढियो के घेरे मे अवरुद्ध कवि समाज का निर्माता कैसे हो सकता है ? यह एक विकट प्रश्न है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि साधारण व्यक्ति पर ही सामाजिक रूढियाँ पूर्ण प्रभाव दिखाती हैं। असाधारण व्यक्ति इनसे प्रभावित होते हुए भी जलकमल के समान निर्लिप्त रहते हैं, इनसे ऊपर उठे होते हैं। वह साधारण प्राणियो से वने समाज से परे अपनी एक स्वतत्र सत्ता रखता है। वह समाज में रहते हुए भी समाज से अलग है। पक से शक्ति लेते हुए भी पकज अपनी स्वतत्र सत्ता रखता हे। 'कवि क्रान्तदर्शी होता है।'[1] उसकी दृष्टि त्रिकाल-दर्शी के समान व्यापक होती है। वह वर्त्तमान के साथ-साथ भूत और भविण्य को भी देख सकता है। वह वर्त्तमान को अतीत और अनागत के मध्य में रखकर उसकी महत्ता का मूल्याकन करता है।

इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि वह वर्त्तमान के उचित मूल्याँकन में उनसे पिछडा जाता है जिनका ध्यान सर्वथा वर्त्तमान पर ही केन्द्रीभूत है। नही, ऐसा नही होता। वह वर्त्तमान की उपेक्षा नही करता। वह नित्य वदलती हुई परिस्थितियो को देखकर उनके अनुरूप अभिनव विचारो का अभिनन्दन करता है। पर उसकी सवेदन शक्ति इतनी पैनी होती है कि वह अनागत को दूर से ही परख लेता है। परिवर्त्तनकारिणी शक्तियो से उत्पन्न होने वाली नई स्थिति और उसके प्रभाव की झलक उसे समाज के अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। अत अनिवार्य रूप से आने वाले सामाजिक जीवन की परिस्थितियो का ज्ञान उसे समाज के उन व्यक्तियो से कही अधिक रहता है, जिनका ध्यान केवल वर्त्तमान पर केन्द्रित है। जो कवि जितना महान् होगा उसकी दृष्टि समाज की जीवन-दायिनी शक्ति का भविष्य उतना ही

१—कवय: क्रान्तदर्शिन ।

अधिक स्पष्ट रूप से देख सकेगी। तात्पर्य यह है कि कवि समाज की वर्त्तमान परिस्थितियो से अनुप्राणित होता हुआ भी उनके बन्धनो में बँधता नही।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि परिवर्त्तन के साथ-साथ समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताएँ बदल जाने से काव्य के मूल्याकन में भी अन्तर अवश्य पडेगा, अत जो कवि समाज की वर्तमान परिस्थितियो से अनभिज्ञ रहकर काव्य-रचना करेगा वह उत्तम काव्य कैसे रच सकता है ? इसका उत्तर यह है कि सामाजिक जीवन को प्रेरित करने वाली एव परिवर्त्तन-कारिणी शक्तियो से कवि अनभिज्ञ रहता ही नही। वह प्रगति का साथ छोड सकता ही नही। कोई जागरूक कवि अपने युग की प्रगतिशीलता से परिचय प्राप्त किए बिना रह नही सकता।

दूसरी बात यह है कि किसी युग में घोर परिवर्तनो के कारण भले ही सामाजिक व्यवस्थाओ में रूपान्तर हो जाए किन्तु उनके कारण "हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादा का—हमारी सास्कृतिक मान्यता का—बदल जाना सिद्ध नही होता, क्योकि यह तो हमारी नस नस में व्याप्त है। उल्टा उसकी परीक्षा ही इन परिवर्त्तनो में होगी।" कारण यह है कि काव्य तो अमिट सौदर्य की सृष्टि करता है। उसके लिए कवि को अध्ययन से मुंह नही मोडना होता। कविगण चारो ओर फैले हुए जीवन का अध्ययन करते हैं और इस अध्ययन से प्राप्त सुष्ठुतम अनुभूतियो को काव्य-रीति से अभिव्यजित करना चाहते हैं। इन अनुभूतियो में जीवन का रस और इस अभिव्यजना में स्वानुभूत सौंदर्य की आभा होती है। इतना ही हमारे लिए अलम् है।"

साहित्य और वाद

काव्य में वादो का क्या स्थान है ? यह एक मार्मिक प्रश्न है। वाद है क्या ? वाद जीवन-सम्बन्धी विचारो और प्रवृत्तियो का बौद्धिक निरूपण है। वह समय-समय पर परिवर्त्तित होने वाली जीवन- धारणाओ को अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक वाद में सामाजिक जीवन का ह्रास-विकास निहित होता है। अत वाद से विरत होकर कविता अपने अभिप्रेत अर्थ को किस प्रकार व्यक्त कर सकती है ?

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। काव्य शाश्वतधर्म का परिचायक होता है और जीवन-व्यापिनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। वाद परिवर्त्तनशील जीवन-दृष्टि का द्योतक होता है। यद्यपि काव्य और वाद दोनो सामाजिक जीवन से उद्भूत होते है, किन्तु दोनो की उद्भव-पद्धति में अन्तर है। काव्य की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी हैं, वाद की सैद्धान्तिक और समूह मुखी।

"काव्य का कार्य है सवेदना की सृष्टि करना, वाद का काम है ज्ञान-विस्तार करना। वाद का स्वरूप एक देशीय है काव्य का सार्वभौम। वाद की सार्थकता सामाजिक विकास के अग्रसर होने में है, काव्य का सौन्दर्य के चिर-नवीन रहने में है। काव्य का लक्ष्य मानव-स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपो का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियो में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झाँकी दिखाता है, वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थिति का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी पर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आश्रय लेकर जो रूप निर्माण करती हैं, उसकी अनुरूप अनुभूति प्रत्येक सहृदय को सभी समयो और सभी देशो में अनायास ही होगी, किन्तु वाद के द्वारा जिस सत्य का एकवार निरूपण होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका पड जाता है। और तब उस वाद को नए व्यक्तियो द्वारा नया-जीवन देने की आवश्यकता होती है, नए सिरे से समझाना होता है, नया सशोधन और नई उपपत्तियाँ रखनी पडती हैं। और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नही हो पाता। अस्तु, हम कह सकते हैं कि काव्य और वाद मानव-जीवन से सबद्ध होते हुए भी दोनो का क्षेत्र पृथक् है। सहकारी होते हुए भी दोनो की कार्य-शैली भिन्न है। दोनो के रूप और प्रक्रिया में मौलिक अन्तर है।"

(नन्ददुलारे बाजपेयी)

नाटक और सामाजिक जीवन—

साहित्य और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध नाटको के उल्लेख के बिना अधूरा रह जायगा। हमारे सस्कृत-साहित्य में समाज के उच्चवर्ग के गण्यमान्य व्यक्तियो को नाटक का नायक बनाने की प्रवृत्ति थी। मृच्छकटिक आदि दो-चार नाटक ही ऐसे हैं, जिनमें समाज के मध्यमवर्ग को नायक माना गया है। अंग्रेजी में शेक्सपियरके नाटको में भी पात्र और कथावस्तु को महानता देने की प्रवृत्ति रही है। किन्तु इब्सन के उपरान्त यह प्रवृत्ति वदली और समाज के मध्यम एव निम्नस्तर के व्यक्ति भी नाटक के प्रमुख पात्र बनाए गए। 'आथरवीग पिनरो' जो प्रारम्भ में एक अभिनेता था, अपने युग का प्रसिद्ध नाट्यकार बन गया। उसने "दी मनी स्पीनर" "दी मजिस्ट्रेट" "दी स्कूल मिस्ट्रेस" "डेंडी डिक" आदि नाटक लिखे। सन् १८९३ ई० में इब्सन से पूर्ण प्रभावित और समाज का नग्न चित्र खीचने वाला एक नाटक "दी

सेकिण्ड मिसेज़ टेंकरे" विरचित हुआ।

पिनरो के नाटको मे समाज का नग्न चित्र देखकर देश में खलबली मची और अधिकारी व्यक्तियो ने इनका विरोध किया। पिनरो के समकालीन हेनरी आर्थर जोन्स ने भी सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण का पूर्ण प्रयास किया। उनका मत था कि वही नाटक, नाटक कहलाने योग्य है जिसमें समाज और सस्था की अनुदार भाव से आलोचना हो।

इसी युग में [1]आस्कर वाइल्ड नाम का अत्यन्त प्रसिद्ध नाट्यकार उत्पन्न हुआ जिसने नाटक में बुद्धि की तीक्ष्णता को प्रमुख स्थान दिया। भाषा में भारी-भरकम शब्दो के स्थान पर बोलचाल की सरल किन्तु प्रभावशाली भाषा का प्रयोग किया। कथोपकथन में प्रवाह का वेग, क्षुरा की धार की तीक्ष्णता एव दो टूक प्रवृत्ति पाई जाती है।

वर्नार्डशा ने बीसवी शताब्दी में नाटक के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न की। सेंट जोन का नाटक एक नूतन नाट्यकला लेकर आया। इसमें तीन आदमी परस्पर बातें करते हैं। वार्त्तालाप के द्वारा सामाजिक जीवन का सजीव चित्र खीचा गया है।

इस प्रकार इब्सन, पिनरो, आस्कर वाइल्ड आदि नाट्कारो के प्रभाव से साहित्य में सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र खीचने का प्रयास हुआ। इन नाट्यकारो का प्रभाव हिन्दी के नाट्यकारो पर पडना स्वाभाविक ही था। अतः हिन्दी मे भी विविध सामाजिक समस्याओ को लेकर नाटक लिखे गए और साहित्य और सामाजिक जीवन में सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया गया।

यद्यपि "शेक्सपियर, बेन जानसन आदि के ड्रामो में भी गौणरूप से समाज का चित्र खीचा गया है, और भाव, भाषा तथा विचार की दृष्टि से वे बहुत ही बडा महत्त्व रखते हैं, लेकिन यह निर्विवाद है कि उनका लक्ष्य सामाज का परिष्कार नही, वरन् ऊँची सोसाइटी का दिल बहलाव था। उनके कथानक अधिकतर प्राचीनकाल के महान् पुरुषो का जीवन या प्राचीन इतिहास की घटनाओ अथवा रोम और यूनान की पौराणिक गाथाओ से लिए जाते थे। शेक्सपियर आदि के नाटको में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियो के पात्रो का अत्यन्त सजीव चित्रण और बडा ही मार्मिक विश्लेषण है, .लेकिन यथार्थ जीवन की आलोचना उनमें नही की गई है। उस समय ड्रामा का यह उद्देश्य नही समझा जाता था।"

---

[1]आस्कर वाइल्ड (१८५५ से १९०० ई० तक)

तीन शताब्दियो में नाटको का उद्देश्य नितान्त परिवर्त्तित हो गया। "अब वह केवल मनोरजन की वस्तु नही है, वह केवल घडी दो घडी हँसाना नही चाहता, वह समाज का परिष्कार करना चाहता है, उसकी रूढियो के बन्धनो को ढीला करना चाहता है और उसके प्रमाद या भ्रान्ति को दूर करने का इच्छुक है। समाज की किसी न किसी समस्या पर निष्पक्ष रूप से प्रकाश डालना ही उसका मुख्य काम है और वह इस सुन्दर कार्य को इस खूवी से पूरा कर रहा है कि नाटक की मनोरजकता में कोई वाधा न पडे, फिर भी वह जीवन की सच्ची आलोचना पेश कर सके।"

जन्मजात आयरिश नाट्यकार वर्नार्डशा ने अग्रेजी समाज की निर्वलताओ और कृत्रिमताओ की चुटकियाँ ऐसे व्यग्य और परिहास भरे शब्दो में की कि अंग्रेजी समाज तिलमिला उठा। शताब्दियो तक विश्व के अधिकाश भाग पर शासन करने के कारण अग्रेजी समाज में जो अहमन्यता, जो वनावटी शिष्टता, जो मक्कारी और ऐयारी, जो नीच स्वार्थपरता घर-घर में अड्डा जमाए थी उनका वहुरूप उतार कर उनको नग्नरूप में खडा करना 'शा' का ध्येय था। समाज के प्रत्येक दुर्वल अग पर उन्होने कलम का कुल्हाडा चलाया। इस प्रकार नाटको को सामाजिक जीवन से ओत-प्रोत कर देने का प्रयास अग्रेजी नाटककारो का लक्ष्य वन गया।

गाल्र्सवर्दी ने अपने नाटको में सामाजिक विषमता का कलापूर्ण ढग से चित्रण किया। उनके नाटको—'चाँदी की डिविया' 'न्याय' और 'हडताल' का अनुवाद प्रेमचन्द जी ने किया। प्रथम में धन के वल पर न्याय की हत्या, दूसरे मे गवन करने वाले की आत्म-हत्या तथा तीसरे मे मिल-मालिको और श्रमिको के सघर्ष का मर्मस्पर्शी चित्र खीचा गया है।

यूरोप में मेसफील्ड नामका एक प्रसिद्ध नाट्यकार इसी समय हुआ जो घोर वास्तविकतावादी था। उसने समाज में व्याप्त क्षुद्रता, धूर्तता और लम्पटता का यथार्थ चित्रण किया। अग्रेजी भाषा के सम्पर्क में आने से पश्चिम के नाटककारो की रचनाओ ने हिन्दी लेखको को प्रभावित किया और उनके द्वारा साहित्य के मुख्य अग नाटक में आमूल परिवर्तन हुआ। प्राचीन सस्कृत नाटको के समान आधुनिक काल का नायक वीरता और शिष्टता की मूर्ति नही माना जाता। वह समाज के एक वर्ग का प्रतिनिधि होता है। उस वर्ग के गुण-दोष उसमें उग्ररूप में प्रगट होते हैं। आज की नायिका शालीनता और पावनता की देवी नही वह स्वच्छन्द विहारिणी, तेजस्विनी या कामुक रमणी होती है। तात्पर्य यह है कि साहित्य में आदर्श से स्थान पर समाज के स्वाभाविक जीवन को प्रधानता दी जा रही है।

समाज और यथार्थवाद

नाटको के अतिरिक्त उपन्यासो में भी यथार्थवाद के नाम पर समाज का वीभत्स चित्र खीचने का प्रयास पाया जाता है। यथार्थवाद की ओट में, समाज में प्राप्त व्यभिचार, अत्याचार, निर्लज्जता, कुकर्म आदि के अतिरजित वर्णन से समाज की कुरीतियो के भडाफोड का जो दृश्य दिखाया जा रहा है, उसका समाज पर न जाने क्या प्रभाव पडेगा।

कही-कही सामाजिक जीवन को साहित्य मे स्थान देते समय सत्य और असत्य की ओर उतना ध्यान नही होता जितना कामुक की नग्न लालसा के उद्घाटन करने, विलास के गुप्त अड्डो के शोध करने तथा सयम-नियम को तिरस्कृत करने, उन्मुक्त भोग-वासना को उद्दीप्त करने की ओर होता है। आज के साहित्यिको का एक बर्ग कदाचित् यह सोचता है कि समाज का उद्धार त्याग-व्रत, औदार्य-शौर्य आदि गुणों की महिमा से नही प्रत्युत वासनाओ को वेलगाम छोड देने से होगा।

यूरोप में साहित्य के लक्ष्य में कितना परिवर्त्तन हो गया है। अरिस्टोटल के युग में "साहित्यकार का उद्देश्य समाज में घटित होने वाली घटनाओ के तद्वत् वर्णन से पूर्ण नही होता था, उसे कल्पना के वल से ऐसी सम्भावित घटनाओ का वर्णन करना होता था जो समाज के मगल के लिए आवश्यक थी।" जिस रचना में समाज के विकास की शक्ति हो जो समाज के वीभत्स वर्णन से विषमता की भावना को (उद्दीप्त करने को कौन कहे—) शान्त करे, जो दुखी और अस्वस्थ को सुखी और स्वस्थ बनाये, वही उत्तम रचना है।[2] हमारे देश में भी नाट्याचार्य ने नाटक की विशेषता वताते हुए लिखा कि यह दुखी, श्रमार्त्त शोकार्त को विश्रान्तिदायक होता हैं। यह मनुष्य को धर्म, यश, आयु, मगल का दाता और बुद्धि का प्रदाता होगा तथा लोक का उपदेष्टा होगा।[3]

---

1 The Poet's function is to describe, not the thing that has happened, but a kind of thing that might happen, i e, what is possible as being probable or neccssary

2 To needy and stick he doth also his cure
To comfort, if aught he can amend "

३—दु खार्ताना श्रमार्ताना शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥
धर्म्यं यशस्यमायुस्यं हितंवुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेश-जननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
नाट्यशास्त्रम्—प्रथम अध्याय—११४-११५

अथवा अरिस्टाटल के शब्दो में साहित्यकार का धर्म है—दुखी समाज को सुखी बनाना। अर्थात् साहित्य उस रचना को कहते हैं जो रोगी और दुखी को सुख-शान्ति दे, उसके दोषो का परिमार्जन करे। प्रेमचन्द के मतानुसार वह साहित्य क्या जो मनःशान्ति को भग करे, सुख की वृद्धि को कौन कहे समाज में काम, क्रोध, लोभ आदि को उद्दीप्त करे।

तात्पर्य यह है कि यदि काल के प्रभाव से समाज का मनोविकार रोगी हो जाए तो साहित्य उसका निदान और उपचारकर्त्ता कविराज बने। समय के प्रवाह से जब सत्य निरादृत और असत्य गौरववान् बनने लगे तो साहित्य इस विषमता को दूर करके सत्य के गौरव की रक्षा करे। यही समाज और साहित्य में सम्बन्ध है।

"तात्पर्य यह है कि हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचार धाराओ का—वादो का—सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अनुवर्त्तीरूप में। साहित्य की अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण में इनका स्थान हैं। ये उनके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नही। साहित्य की अपनी सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन-सापेक्ष्य है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धान्त है।"

दूसरा अध्याय

काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

(१)

कवि अपने चतुर्दिक् फैले विश्व को केवल वाह्य नेत्रो से ही नही देखता है। वह ऐसा विलक्षण द्रष्टा है कि उसके सम्मुख प्रकृति अपने वास्तविक रूप में खडी होकर अपना सौन्दर्य उसकी आँखो में उँडेल देने को व्याकुल हो उठती है। सामान्य व्यक्ति और कवि में यही अन्तर है कि सामान्य व्यक्ति जिस ध्वनि को कानो से नही सुन पाता कवि के कर्ण-कुहरो में वह ध्वनि अनायास पहुँच जाती है। जिन अदृश्य लोको को सामान्य व्यक्ति देख नही पाता कवि के हाथो में वे हस्तामलक बन जाते हैं। जहाँ रवि नही पहुच सकता, वहाँ कवि पहुच जाता है। "कवय किं न पश्यन्ति" की कहावत इस बात का प्रमाण है कि कवि की दृष्टि अत्यन्त व्यापक होती है।

मेघ-पर्वत, नदी-सरोवर, लता-वृक्ष आदि को सामान्य व्यक्ति और कवि दोनो देखते हैं पर उनकी अनुभूतियो में अन्तर होता है। और वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी जव प्रकृति का चित्रण करने वैठ जाते हैं उस समय सामान्य व्यक्ति विस्मय-विभोर हो उठता है। उसे प्रकृति के वे रूप दिखाई पडने लगते हैं जिनकी उसने कभी कल्पना भी न की थी। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि कवि जगत के अनुभव के साथ अपना व्यक्तित्व मिलाकर प्रकृति और पुरुष को देखता है। प्रकृति वही है जिसे सामान्य व्यक्ति भी देख रहा है, पर सामान्य व्यक्ति के पास कवि का वह व्यक्तित्व नही जो उसे कवि की कोटि में विठा सके। कवि साधना के वल से जीवन के सर्वोत्तम क्षणो का साक्षात्कार करता है। वह आचार्य भामह के कथा-नुसार [1]समाधि की स्थिति में, प्लेटो के कथानुसार [2]अनुप्रेरणा की स्थिति मे,

---

१. काव्य-कर्मणि समाधि परव्याप्रियते। काव्य मीमांसा।

2 A poet cannot compose unless he becomes inspired

शेली के अनुसार रमणीय एव उत्तम[1] क्षणो के दर्शन की स्थिति में पहुचा होता है।

तात्पर्य यह है कि कवि का व्यक्तित्व महान् होता है, "वह प्रजापति है। वह जैसा चाहता है वैसा ही ससार को अपनी रचना के वल से परिवर्त्तित कर देता है।"[२] प्रश्न यह है कि ऐसा व्यक्तित्व कवि को कैसे और कहाँ से प्राप्त होता है? विविध आचार्यों ने इस विषय पर विविध ढग से विचार किया है। कवि मस्तिष्क से मेधावी, एव हृदय की निर्मलता के कारण सहृदय होता है। वह बुद्धि-वैभव और रागात्मिका वृत्ति का सामञ्जस्य करता है। 'जीवन के निश्चित विन्दुओ को जोडने का कार्य उसका मस्तिष्क करता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रग भरने की क्षमता' उसे हृदय से प्राप्त होती है। वह अनुभूति के क्षणो में सत्य का दर्शन करता है और उसकी अनुभूति की परिपक्वता में सौन्दर्य का तेज उसका सहायक होता है। पर उसका सौन्दर्यवोध विलक्षण प्रकार का होता है।

कवि सौन्दर्य की अनुभूति के क्षणो में सामान्य व्यक्ति से नितान्त भिन्न हो जाता है। उसका सौदर्य-दर्शन आशिक नही परिपूर्ण होता है। उसके लिए सौन्दर्य ईश्वर की सृष्टि का चमत्कार ही नही है वह तो सृष्टि का सर्वस्व बन जाता है।

उसकी दृष्टि में सौन्दर्य इस विश्व का स्रष्टा होता है।[3] उसके सौन्दर्य-भडार में वाह्य जगत् की अनेकरूपता के साथ-साथ अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता भी क्रीडा करती है। कवि अपने सौन्दर्यबोध के वल से इतना विराट् वन जाता है कि "छोटा, वडा, लघु, गुरु, सन्दर, विरूप, आकर्षक भयानक" सव उसके अक में समा जाते हैं। उसको "उजले कमलो की चादर जैसी चाँदनी में मुस्कराती हुई विभावरी यदि अभिराम प्रतीत होती है तो अँधेरे के स्तर पर ओढ-कर विराट् वनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नही। फूलो के वोझ से झुक-झुक पडने वाली लता कोमल है, तो शून्य नीलिमा की ओर विस्मित वालक-सा ताकने वाला ठूठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरल जलदान से पृथ्वी कँपा देने

---

1 Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds

२. अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापति.।
यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्त्तते ॥

3. Beauty is the creator of the uuiverse.

R. W. Emerson

वाला बादल ऊँचा है तो एक बूँद आँसू के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नही। गुलाब के रग और नवनीत की कोमलता में ककाल छिपाए हुए रूपसी कमनीय है, पर झुरियो में जीवन-विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नही। वाह्य जीवन की कठोरता, सघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान् है पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नही।"

पश्चिम के आलोचको ने तो कवि के सौन्दर्य–बोध के अन्तर्गत ही महान् मगल को सन्निविष्ट कर दिया। गेटे कहता है कि "सौन्दर्य का स्थान मगल से उच्चतर है।"[1]

कवि नर-सामन्य के समान इस विशाल विश्व को नित्य देखता रहता है, किन्तु प्रकृति-जन्य-सौंदर्य उसकी आँखो में कभी-कभी एक अलौकिक सौन्दर्य के साथ झूमने लगता है। वे क्षण असाधारण अत. विरल होते हैं। कवि को उसके हृदय में अनेक वार उठने वाले क्यो, कैसे, क्या के उत्तर-रूप में वे चमत्कार पूर्ण क्षण प्राप्त होते हैं। वह जितने पदार्थों को देखता है उनमें से कुछ को हृदय, कुछ को हेय और कुछ को उपेक्ष्य पाता है। उसका जिज्ञासु हृदय इनके विषय में प्रश्न पूछता रहता है कि ऐसा क्यो है ? इस प्रश्न पर विचार करते-करते तन्मयता के क्षणो में उसे एक दिव्य ज्योतिर्मय प्रतिमा दिखाई पडती है, जिसे देखकर वह स्वत. विस्मय-विभोर हो उठता है। उसे अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। उसी आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए वह वाहन ढूढता है। जब उसे उपयुक्त वाहन (सुन्दर भाषा) मिल जाता है तो उसका आकुल मन, हृदय मे विद्यमान उस आनन्द-प्रतिमा का सौन्दर्य पाठको के सम्मुख रखने लगता है। वह चाहता है कि जैसी भावात्मकता उसके हृदय में विराजमान है वैसी ही वह पाठको के हृदय में विठा दे, जिससे वे भी कवि के समान आनन्द की हिलोरो में तैरने लगें। यही कवि का व्यक्तित्व है, जो उसे जन-सामान्य से पृथक् करता है।

कवि सौन्दर्य का दर्शन प्रकृति के जड एव चेतन दोनो पदार्थों में समान रूप से कर सकता है। वह जड को भी चेतन वना लेता है और चेतन को सौंदर्यमय। चेतन में उसका सौन्दर्य-दर्शन जीवन की परिपूर्णता की ओर अग्रसर होता है। डान्टे की विएट्रिस, सूर की रावा, तुलसी की सीता मे राशि-राशि सौन्दर्य जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। इन कवियो ने सुन्दरता के द्वारा प्राप्त

---

1 The beautiful is higher than the good, the beautiful includes in it the good.

Geothe

पूर्णता को अपने जीवन में उतार-सा लिया था। उस अलौकिक सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए ऐसी प्रेम-साधना अनिवार्य बनती है, जो निरी बौद्धिक नही, भावात्मक भी होती है। जो केवल अवकाश के क्षणो के लिए मनोरजन का साधन नही, जीवन के एक-एक क्षण की प्राण-दायिनी शक्ति बनती है। जिसके बिना जीवन-जीवन नही, जिसके बिना रागात्मिका वृत्तियाँ निर्जीव हैं, इन्द्रियाँ कर्म-हीन हैं, शक्तियाँ सुप्त हैं। डान्टे अपनी आराध्या देवी विएट्रिस के प्रेम में केवल सौन्दर्य की ही परिपूर्णता नही देखता, वह उसमें विचारो की भी परिपक्वता का दर्शन करता है। वह विएट्रिस के प्रेम-रहस्य को समझने के प्रयास से ससार को समझ लेता है, क्योकि उसके प्रेम में उसे जीवन की पूर्णता मिलती है।[1] उसकी प्रतिमा आँखो के सामने आते ही समस्त ससार का ज्ञान उसके मन में समा जाता है।

यदि विचार करके देखा जाय तो विएट्रिस डाटे के, राधा सूर के, और सीता तुलसी के जीवन के अनुभवो की, उनकी महत्तम आकाक्षाओ की, प्रतिमा के रूप में उनके सम्मुख—सतत साधना के उपरान्त—आविर्भूत हुई थी। उनमें मानो कवि का व्यक्तित्व झाँक-झाँक कर कवि को धन्य बना रहा है। कवि के व्यक्तित्त्व का उसकी कृति के साथ यही अनन्य सम्बन्ध है।

कवि के व्यक्तित्व और समाज के प्रति उसके दायित्व में क्या सम्बन्ध हो ? यह प्रश्न अनेक बार चिरकाल से उठता चला आ रहा है। क्या यह सम्भव है कि कवि समाज से पराङ्मुख होकर स्वनिर्मित कल्पना और सौन्दर्य के लोक में ही विचरण करता रहे ? क्या कवि इस पलायनवाद से अपने व्यक्तित्व को विकासोन्मुख बना सकता है ? यदि कवि का व्यक्तित्व विकसित न हुआ तो क्या वह उच्चकोटि की रचना कर सकता है ?

हेनरी हडसन का कथन है कि "साहित्यकार मूलत भाषा के माध्यम द्वारा जीवन का अनुभव अपनी रचनाओ में उँडेलता रहता है।[2] वह अपने जीवन में सुख-दुख, आशा-अभिलाषा, विकास-ह्रास आदि भावो और उनके कारणो का अनुभव करता है। उसी के द्वारा उसका व्यक्तित्व बनता है। अत. अपने अनुभवो को अभिव्यक्त करने वाली रचनाओ में वह अपने व्यक्तित्व को अनावृत करता है।

1, To love her is to be aware of life's perfection

2 It is fundamentally an expression of life through the medium of language

व्यक्तित्व और समाज

कवि की अपनी मौलिक शक्तियाँ समाज के वातावरण में विकसित अथवा ह्रासोन्मुख बनती हैं। सामान्य व्यक्ति के सदृश कवि की शक्तियाँ, उसके जीवन की गतिविधियाँ, समाज को सचालित करने वाले अनेक विधि-विधानो, स्वीकृति-निषेधो से परिचालित होती हैं। स्वाधीन से स्वाधीन प्रकृति का मनुष्य भी समाज से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। हाँ, प्रभाव की मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है। आज का आलोचक किसी भी कवि की कृतियो की आलोचना करते समय उसके व्यक्तित्व की महानता के साथ-साथ समाज का उस पर प्रभाव और उसका प्रभाव समाज पर दिखाना आवश्यक समझता है। कही कवि का व्यक्तित्व इतना महान् होता है कि समाज अपनी युग-युग की प्रचलित रूढियो को त्यागने के लिए विवश होता है और कवि के व्यक्तित्व के सम्मुख नत मस्तक हो जाता है। ऐसा कवि समाज को एक नये ढाँचे में ढालता है। उसको परिष्कृत बनाता हुआ विकास की ओर ले जाता है। कबीर, सूर, तुलसी आदि का ऐसा ही व्यक्तित्व था। इन्होने समाज की रूढियो को कोमल फूल की माला के समान तोड डाला। प्रारम्भ में तो समाज ने इनका विरोध किया, किन्तु जब इनके व्यक्तित्व का लोहा मान लिया तो इन पर फूल-माला चढाने को वह दौड पडा।

समाज का जीवन-प्रवाह चलते-चलते जब नई-नई समस्याओ की विशाल चट्टानो से अवरुद्ध होने लगता है, और उनको तोडे बिना प्रवाह की गति रुकने लगती है तो प्रतिभाशाली कवि उनको चूर्ण करने की युक्ति निकाल लेता है। समाज उस युक्ति का प्रयोग करता है और विशाल शिलाखड को कण-रूप में परिणित कर देता है। इस प्रकार जीवन-प्रवाह बडे वेग से गतिमान बन जाता है।

कवि का व्यक्तित्व जितना महान् होगा उतना ही उसकी कृति का मान होगा। उसकी निष्ठा जितनी सत्य होगी उसकी रचना उतनी महत्त्वमय होगी। हडसन ने कहा है कि "हृदय की सचाई के बिना किसी सजीव साहित्य की सृष्टि सम्भव है ही नही।"[1]

यह निर्विवाद है कि हृदय में सचाई तभी स्थान पाती है जब मनुष्य की अनुभूति में गम्भीरता और दृष्टि में व्यापकता आ जाती है। जब चित्त चन्द्रकान्त मणि के समान बनकर अनुभूति की ज्योत्स्ना से द्रवित होने लगता है तो उससे

---

1 Without sincerity no vital work in literature is possible
Hudson

अमृत-रस प्रवाहित होने लगता है। उसे ही पीकर रसज्ञ पाठक झूम उठता है। इसीलिए कहा जाता है कि कवि की आकर्षक रचनाएँ लौह-हृदय पाठको को भी चुम्बक के समान अपनी ओर खीच लेती हैं। वे (पाठक) विस्मय-विभोर हो जाते हैं।

कविकृति मे कवि-व्यक्तित्व

अब प्रश्न उठता है कि कवि की कृतियो मे उसके व्यक्तित्व की झलक किस प्रकार दिखाई पडती है ? पश्चिम के आलोचको ने इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनका मत है कि कवि जीवन की समस्याओ पर चिन्तन करते-करते जीवन के रहस्यो का उद्घाटन करने को व्याकुल हो उठता है। नियति ने जीवन के रहस्य-रत्न को अनेक आवरणो के बीच छिपा कर रखा है। कवि अपने अनुभव और प्रातिभ ज्ञान के बल से उन आवरणो और आवेष्ठनो के विविध तहो को एक-एक करके खोलता जाता है। जब सभी तहो को उधेड कर रत्न को अनावृत कर देता है तो रहस्यरत्न अपने स्वाभाविक रूप में उसके नेत्रो के सामने जगमगा उठता है। कवि उस रत्न की जैसी प्रतिमा देखता है शब्दो द्वारा वैसा ही चित्र अपनी रचना में उतारने का प्रयास करता है। जीवन-रत्न की ज्योति इतनी प्रखर होती है कि वह आवरणो के कतिपय तहो को भी बेधती हुई बाहर फूटी पडती है। इस प्रकार कवि को कभी-कभी जीवन के वास्तविक तथ्य का साक्षात्कार हुए बिना भी उसके धुंधले प्रकाश की अनुभूति होने लगती है। जो कवि उसी प्रकाश से सन्तुष्ट होकर उसके अपूर्ण चित्र की झाँकी दिखाने को व्याकुल हो उठता है वह अर्ध सफल अथवा असफल रह जाता है, किन्तु जो अपनी सत्यनिष्ठा और अपने सत्य-सकल्प के बल से आवरण के समस्त तहो को उधेड फेंकता है, उसे सत्य के स्वाभाविक रूप का दर्शन होता है। उस रूप की प्रतिमा को प्रगट करने के लिए वह काव्य में नायक-नायिका की कल्पना करता है और उनके माध्यम द्वारा उस सत्य-प्रतिमा की ज्योति को अभिव्यक्त करता है।

इस प्रक्रिया को समझाने के लिए प्रसिद्ध आलोचक अबरक्रोम्बी (Abercrombie) ने डाटे, शेक्सपियर और मिल्टन की रचनाओ का आधार लिया है। उनका कहना है कि शेक्सपियर के 'हेमलेट' और मिल्टन के 'सैटन' में उक्त कवियो का जीवन-अनुभव मानो साकार हो उठा है। आलोचक का कहना है कि 'हेमलेट' और 'सैटन' में कवि—शेक्सपियर और मिल्टन-का कवित्वमय व्यक्तित्व झाँकता है। कवि का उद्देश्य है अपने कविजीवन के अनुभव

को अभिव्यक्त करना। कवि की कल्पना एव उसके अनुभव में जीवन की जो मूर्त्ति झलकती है उसी की प्रतिमूर्त्ति उसके नायक-नायिका में प्रस्फुटित होती है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या कवि का व्यक्तित्व प्रतिनायक के रूप में भी अभिव्यक्त होता है ? यदि प्रतिनायक में भी कवि हृदय ही प्रतिमूर्त्त होता है तो एक ही मनुष्य (कवि) में रामत्व और रावणत्व का समावेश कैसे सम्भव है ? आलोचको ने इस प्रश्न को सुलझाया है। उनका मत है कि तुलसी और सूर ने, जिस सत्य का साक्षात्कार किया है उसकी प्रतिमूर्त्ति वे नायक राम और कृष्ण के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहते हैं, प्रतिनायक रावण एव कस के माध्यम से नही। प्रतिनायक रावण और कस तो कवि के जीवन-लक्ष्य राम-कृष्ण के तेज को पूर्णतया प्रतिभासित कराने के लिए अन्धकार के पु ज-रूप हैं। रावण एव कस के अन्धकार में राम और कृष्ण रूपी रत्न अधिक जगमगा उठते हैं। प्रतिनायक (रावण और कस) राम-कृष्ण की ज्योति के दिव्यरूप को प्रोद्भासित करने के लिए कल्पना की तूलिका से रजित वातावरण मात्र हैं। चित्र में विद्युज्ज्योति दिखाने के लिए मेघाडम्बर की पृष्ठ भूमि अनिवार्य है।

मिल्टन का उदाहरण लीजिए। तत्कालीन राजनीति से असन्तुष्ट कवि राज्य के प्रति विद्रोह करता हुआ 'सैटन' की कल्पना करता है। उसका अपरिपक्व अनुभव 'सैटन' को जिस रीति से चित्रित करता है वह इस बात का साक्षी है कि राग-द्वेष से जर्जरित कवि-हृदय सत्य की प्रतिमा को अति गहन अन्धकार में टटोल रहा है और उसकी उपलब्धि न होने पर केवल अनुमान के भरोसे जीवन की व्याख्या कर रहा है। कवि के मानस-क्षेत्र में 'सैटन' की प्रेरणा और 'ईव' के अनुरोध से 'आदम' सेव का फल चखता है। परिणाम स्वरूप 'पैराडाइज' से च्युत होता है। मिल्टन का अनुभव जब परिपक्व होता है तो 'पैराडाइज री गेन्ड' में ईसा अवतरित होता है और 'पैराडाइज' की पुन प्राप्ति होती है। मिल्टन का जीवन जिस स्तर पर पहुचता है उसका काव्य भी उसी कोटि मे पहुच जाता है। अतः स्पष्ट हो गया कि कवि का व्यक्तित्व उसकी कृतियो मे नायक की प्रतिमूर्ति वनकर पाठक के सामने उपस्थित होता है। कवि के व्यक्तित्व और उसके काव्य का यही अविच्छिन्न सम्वन्ध है।

स्थायी और अस्थायी साहित्य

युग-युग से अनेक कवि रचना करते चले आ रहे हैं। ये अगणित कवि कहाँ गए ? उनकी कृतियाँ क्यो अन्धकार में विलीन हो गई ? किन्तु वाल्मीकि और व्यास, सूर और तुलसी प्रभृति कवि और उनकी कृतियाँ क्यो उत्तरोत्तर सम्मा-

नित हो रही हैं। यद्यपि यह सत्य है कि किसी ग्रन्थ का सम्पूर्ण भाग उत्तम एव स्थायी काव्य नही होता, उसके कतिपय अश सामान्य एव अस्थायी साहित्य के रूप मे दिखाई देते हैं, तथापि उत्तम काव्य का स्थायी अश ऐसा सशक्त होता है और उसकी प्रवन्धात्मकता का प्रवाह ऐसा वेगमय होता है कि उसमें घुलमिल कर अस्थायी साहित्य भी स्थायी एव गरिमामय वन जाता है। उदाहरण के लिए तुलसी का 'रामचरित-मानस' लीजिये। स्थान-स्थानपर आपको ऐसी रचना मिलेगी जिसे यदि मूल-ग्रन्थ से पृथक् कर दिया जाय तो वह निश्चय अस्थायी साहित्य बन जाय, किन्तु मानस की प्रवन्धात्मकता के रग में रजित होते ही वह रचना स्थायी वन जाती है।

स्थायी साहित्य का यह लक्षण है कि उसके पात्रो का व्यक्तित्व स्थायी होता है। यद्यपि पात्रो का व्यक्तित्व कवि के व्यक्तित्व के वल पर ही स्थायी बनता है, तथापि उसकी पृथक् भी सत्ता स्वीकार की जाती है। पाठको के सम्मुख कवि का व्यक्तित्व पात्रो के व्यक्तित्व के उपरान्त आता है। व्यक्तित्व-प्रधान पात्रो की यह महिमा है कि वे काल्पनिक होते हुए भी सत्य प्रतीत होते हैं, परोक्ष होते हुए भी अपरोक्ष के सदृश प्रभाव डालते हैं, अमूर्त्त होते हुए भी सप्राण एव सक्रिय प्राणी के समान हमारे सुख-दुख के विधायक वनते हैं। इसका कारण है पात्रो का महान् व्यक्तित्व। जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में व्यक्तित्व-प्रधान मानव अपने क्रिया-कलापो, वचन और चिन्तन से हमें गति प्रदान करता है, उसी प्रकार व्यक्तित्वप्रधान-पात्र अपने चितन और मनन से, वाणी और क्रिया से, पाठक के मन को शक्ति देता है। जिस पात्र का व्यक्तित्व जितना महान् होगा, उसका उतना ही स्थायी प्रभाव पाठक के मानस-पटल पर पडेगा। साहित्यकार की सफलता और विफलता की यही वडी कसौटी है। जिस काव्य के पात्र जितने दिनो तक पाठक के मन को उद्बुद्ध करते रहते हैं, वह काव्य उतने दिनो तक अमर बना रहता है। श्रेष्ठ कवि की यह महिमा है कि उसके पात्र देशकाल का अतिक्रमण करके व्यष्टि और समष्टि के जीवन में चेतना उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन में नैतिकवल के द्वारा आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है। जिस समाज में आत्मविश्वास है वह समाज सशक्त है। समाज को सशक्त बनाकर साहित्य एक उद्देश्य को पूर्ण करता है।

पात्र मे व्यक्तित्व

विचारणीय विषय यह है कि पात्रो का व्यक्तित्व कवि की रचना में किस प्रकार प्रस्फुटित होता है। ऐबरक्राम्बी ने अपनी पुस्तक 'दी आइडिया आफ ग्रेट पोइट्री (The Idea of Great Poetry) में इस विषय पर विस्तार से

विचार किया है। उसका कहना है कि काव्य में पात्रो का आचरण एव व्यवहार ही प्रत्यक्ष होता है, वे प्रेरणायें अव्यक्त रहती हैं, जिनके द्वारा पात्रो में विशेष प्रकार का आचरण और व्यवहार दिखाई पडता है। किन्तु उन आचरणो के मध्य से पात्रो का व्यक्तित्व उसी प्रकार फूट पडता है, जिस प्रकार सरित्सरोवर की उछलती तरगो से पवन की प्रेरक शक्ति अनायास प्रगट होती है। तरगो के उत्थान और पतन का अवलोकन करने से पवन की उस सत्ता का आभास स्वत मिल जाता है जिसके बल से जल मे स्पन्दन होता है। ठीक इसी प्रकार पात्रो की कार्यावली, उनके कथन और वार्तालाप, घटनाओ के उत्थान और पतन से पात्रो का व्यक्तित्व प्रगट हो जाता है।

अतिमानव मे मानव व्यक्तित्व

दूसरा प्रश्न यह है कि रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यो में अतिमानव पात्रो के द्वारा मानव का व्यक्तित्व किस प्रकार दिखाया जा सकता है ? वाल्मीकि के पात्र विशेषकर राम और हनुमान को मानव किस प्रकार स्वीकार किया जाय ? उनके चरित्र इतने महान् हैं कि उनमें मानव-व्यक्तित्व की सम्भावना कैसे की जाय ? जिस धनुष को—

"भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा।"

उस विशाल धनुष को सुकुमार राम सहज ही तोड डालते हैं। तुलसी के शब्दो में—'लेत चढावत खैंचत गाढे। काहु न लखा देख सब ठाढे।' 'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।' पाठक का मन सहसा इसे कैसे स्वीकार करे।

हनुमान की घटना और भी अलौकिक और अविश्वसनीय है। समुद्र-लघन के समय का एक दृश्य देखिए—

"जोजन भरि तेहि बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन विस्तारा॥
जस-जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दून कपि रूप दिखावा॥
सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघुरूप पवनसुत लीन्हा॥"

ऐसे असम्भावित कार्य कैसे सम्भव मान लिए जाएँ ? ऐसी दशा में राम और हनुमान के मानवीय व्यक्तित्व का आभास कैसे सम्भव है ? यदि मानवीय व्यक्तित्व के स्थान पर दैवी व्यक्तित्व की कल्पना की जाए तो उसका प्रभाव हमारे मन पर उतना गहरा कैसे पड सकता है ? अत अतिमानव पात्रो के माध्यम से कवि का व्यक्तित्व किस प्रकार झलक सकता है ?

इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वाध्य होकर मानवशक्ति को असीम और मानव-जीवन के रहस्यो को दुर्गम मानना पडता है। मानव कब

दानव से दुर्दान्त और कब देवता से भी महान् बन जाता है, कौन कह सकता है ! मानव में निहित शक्तियाँ उसके क्रिया-कलापो से सीमित नही बनती। हमारे युग का मानव जो कुछ सोचता-विचारता या अनुभव करता है, वही उसकी शक्ति की इतिश्री का परिचायक नही। मानव और उसकी शक्तियाँ इनसे ऊपर हैं जो तपबल[1] से प्राप्त होती हैं। कारण यह है कि भौतिक शक्तियो से बढकर एक अदृश्य शक्ति और है जिसे आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं। इस शक्ति से अनभिज्ञ पाठक राम के कार्यों और व्यक्तित्व में भले ही असामजस्य खोज निकाले, किन्तु जिन्हे अपरिमेय आत्मशक्ति का लेशमात्र भी ज्ञान है वे लोग इनमें सङ्गति बिठा लेते हैं, और उन्हे तुलसी का व्यक्तित्व इन अध्यात्म-परक घटनाओ के मध्य स्फुट होता दिखाई पडता है।

व्यक्तित्व व्याख्या का विषय नही है। यह हृदय मे अनुभूति गम्य होता है।[2]

प्रश्न उठता है कि राम और हनुमान अपने व्यक्तित्व के कारण अथवा परम्परागत श्रद्धा और धार्मिक भाव के कारण हमारे लिए पूज्य बने हैं ? क्या श्रद्धा और धार्मिकता के कारण, उनके मानवरूप में हमारा विश्वास जम जाता है या उनके व्यक्तित्व के कारण ? क्या महामानव या अतिमानव का व्यक्तित्व हमारे हृदय को प्रभावित कर सकता है ?

इन प्रश्नो का तार्किक उत्तर देना सहज नही। राम या हनुमान के चरित्र में कुछ ऐसी विशेषता है जिससे अपावन मानव पावन बन जाता है, असहाय व्यक्ति भी आश्रय पा जाता है, दुखी दुख से मुक्त होजाता है। यह अनुभव का विषय है तर्क का नही। राम और हनुमान शताब्दियो से लाखो करोडो के जीवन-सम्बल रहे हैं। जनता उनके अलौकिक गुणो के कारण उन्हे अवतार मान बैठी है। तथ्य तो यह है कि राम के चरित्र में दो प्रकार का व्यक्तित्व है—महा मानव का व्यक्तित्व और परमात्म-तत्व का व्यक्तित्व। इसी प्रकार हनुमान दास्यभक्ति का प्रतीक मानव-रूप में है और योगिराज का प्रतीक देवरूप में। इन्ही दो प्रकार के व्यक्तित्व के कारण राम और हनुमान का चरित्र

---

१. यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ मनु॥

अर्थात् जिसको पार करना कठिन है, जिसको प्राप्त करना कठिन है, जहाँ तक पहुँचना कठिन है, जिसको करना कठिन है, वह सब तप से साध्य होता है, क्योकि तप का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

2 Your personality is not a thing we can explain,

हमारे सम्मुख अतक्र्यरूप में आता है ।

पात्र मे कवि का जीवन और व्यक्तित्व

पश्चिम के कई आलोचको का मत है कि कवि अपने चरित्र को अपने किसी-न-किसी पात्र में व्यक्त कर दिया करता है । अपने जीवन के दुख-सुखो के पुज और घटनाओ के वैविध्य को वह एक विशेष पात्र के द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है । उसी पात्र के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व को पाठक तक पहुँचाना चाहता है । प्रमाण के लिए शेक्सपियर का उदाहरण दिया जाता है । शेक्सपियर ने हेमलेट पात्र के द्वारा अपना जीवन अभिव्यक्त किया है । ब्रैडले का कथन है कि जिस प्रकार शेक्सपियर को जीवन में (हेमलेट की रचना के पूर्व) लगातार कई सम्बन्धियो की मृत्यु का दुख देखना पडा और थियेटर की नौकरी के छूटने की भी उसे आशका बनी रही, ठीक उसी प्रकार हेमलेट को भी सम्बन्धियो की मृत्यु का दुख सहना पडा और उसके पितृव्य स्वय उसके पिता का वध करके हेमलेट के राज्याधिकार को अपहृत करना चाहते थे । इस प्रकार विचार करने पर ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्भवत शेक्सपियर अपने जीवन और व्यक्तित्व को ही हेमलेट के रूप में अभिव्यक्त करना चाहता था ।

हमारे यहाँ भी कहा जाता है कि 'वाल्मीकि तुलसी भए ।' वाल्मीकि का अवतार लेकर तुलसी आए । अर्थात् जिस प्रकार वाल्मीकि के आराध्य राम थे उसी प्रकार तुलसी के पूज्य राम बने । वाल्मीकि ने जिस प्रकार राम के व्यक्तित्व को प्रकट किया तुलसी ने भी उसी प्रकार अपनी श्रद्धाभावना से ओत-प्रोत राम के चरित्र को हमारे सामने रखा । कविता है क्या ? मानव जाति के उच्चतम विचारो को जब कवि की भावनाओ से ओत-प्रोत करके पाठक के सामने रखा जाता है तो वह कविता बन जाती है । तुलसी अपनी श्रद्धा के भावो को राम के उदात्त चरित्र में भरकर हमारे सामने रखते हैं । इस महाकाव्य में तुलसी का व्यक्तित्व हनुमान के रूप में और उनके विचारो की साकारता राम के रूप में देखी जा सकती है । इसीलिए कहा जाता है कि तुलसी हनुमान के पुजारी और राम के भक्त थे । इसी प्रकार सूर को उद्धव का अवतार माना जाता है । अर्थात् सूर का व्यक्तित्व उद्धव के रूप में देखा जा सकता है । इसीलिए नाभादास जी ने भक्तमाल में तुलसी को वाल्मीकि का और सूर को उद्धव का अवतार माना ।

व्यक्तित्व मे असम्बद्धता

कभी-कभी हमें एक ही पात्र के चरित्र मे विरोधी गुणो के दर्शन होते हैं, जिनसे

उनके व्यक्तित्व के निर्माण में एक प्रकार से अवरोध सा प्रतीत होता है। हम लका के अधिनायक रावण को एक ओर चारो वेदो का ज्ञाता और पूर्ण पडित के रूप में देखते हैं,दूसरी ओर ऋषिगणो के शरीर से महा अत्याचारी के रूप में 'रक्त-कर' लेते हुए पाते हैं। एक ओर तो वह स्मरभस्मकारी शिव का उपासक है दूसरी ओर परस्त्री का अपहरण करता है। क्या ऐसे विरोधी गुणो के कारण हमें रावण के चरित्र-निर्माण में सन्देह और व्यक्तित्व मे अविश्वास नही होने लगता है ? ऐसे सन्देहात्मक चरित्रो का प्रभाव पाठक पर किस प्रकार वाछनीय हो सकता है ? जब तक पात्रो के चरित्र में सम्बद्धता न होगी तब तक उसका प्रभाव पाठक पर कैसे पड सकता है ? पर तथ्य यह है कि काव्य मे क्षण-क्षण घटित होने वाली घटनाओ के पीछे पात्र का व्यक्तित्व प्रेरणा देने वाला रहता है। पात्र का ही व्यक्तित्व है जो पाठक को दिव्य-दृष्टि प्रदान करके आनन्द की उपलब्धि कराता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि कवि पात्रो का यही व्यक्तित्व काव्य द्वारा निर्मित करता है और इस निर्माण में उसका उद्देश्य कवित्व दर्शन होता है। इस निर्माण में कवि व्यावहारिक सत्य को नही ग्रहण करता। अर्थात् जीवन में जो स्थिति जैसी है वैसी ही तद्वत् रूप में गृहीत नही होगी, प्रत्युत वास्तविक स्थिति को काव्यकला के आधार पर घटा बढाकर दिखाया जाता है, और इस प्रकार पाठक के हृदय पर प्रभाव डालने का प्रयास किया जाता है। कवि कल्पना-जगत में एक विशेष प्रकार के जीवन-विधान की सृष्टि करता है, और उन्ही को व्यवहृत करने के लिए पात्रो का ऐसा व्यक्तित्व निर्मित करता है जिसकी प्रेरणा से उसकी कल्पना साकार बनकर सत्य के रूप में अभिव्यक्त हो उठती है।

व्यक्तित्व के निर्माण में पात्र के विरोधी गुणो का भी विशेष महत्त्व होता है। अप्रत्याशित घटनाएँ हमारे मन को चमत्कृत करती हैं। रावण के व्यक्तित्व की यही विशेषता है कि वह चारो वेदो का ज्ञाता होकर भी अत्याचारी है, शिव-पूजक होकर भी दुराचारी है, विद्वान् होकर भी अहकारी हैं। वह एक ओर तो इस तथ्य का प्रतीक है कि वेदशास्त्र-ज्ञाता भी अत्याचारी, कामी और अहकारी हो सकता है, दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व के बल से राक्षसी सभ्यता का पोषक बनता है। रावण के चरित्र की इसी असम्बद्धता से काव्य में चमत्कार आ गया है। जब हम किसी व्यक्ति के जीवन में अप्रत्याशित घटनाओ को घटते देखते हैं तो हमें इस नाटकीय शैली के कारण एक प्रकार का चमत्कार जान पडता है। यही चमत्कार काव्य को जीवनी शक्ति प्रदान करता है। अतएव यह समझना भ्रम होगा कि असम्बद्ध घटनाओ के कारण पात्र के व्यक्तित्व का विकास नही

ह्रास होता है ।

गीतिकाव्य मे कवि का व्यक्तत्व—

हिन्दी की छायावादी कविताओ में कविका व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रूप से देखने में आता है । अग्रेजी रोमाटिक पोइट्री के सदृश छायावादी हिन्दी कविताओ मे लेखक का वैयक्तिक दृष्टिकोण सबसे अधिक प्रमुख हो उठता है । कहा जाता है कि रोमाटिक कवि कीट्स और शेली की कविताओ में उनके व्यक्तित्व की सभी विशेषताएँ प्रस्फुटित हो उठी हैं । इन कवियो की अहवादिता, विचारो की दृढता, अज्ञान एव आडम्बर के प्रति जिगुप्सा, स्पष्टता के प्रति निष्ठा, प्रेम और कारुण्य के प्रति सद्भावना उनके गीतो में फूट पडती है । ठीक इसी प्रकार 'निराला' की निर्भयता, 'प्रसाद' की रहस्यवादिता, पन्त की राष्ट्रीयता एव दार्शनिकता, महादेवी की विरहानुभूति उनके गीतो के वातायन से रह-रहकर झाँकती रहती है ।

आधुनिक हिन्दी गीतो की मार्मिकता पर प्रकाश डालते हुए महादेवी वर्मा कवि के वैयक्तिक सुखदुख की ओर इस प्रकार सकेत करती हैं—

"सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दो में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है ।　×　×　× वास्तव में गीत के कवि को आर्त्त क्रन्दन के पीछे छिपे हुए दु खातिरेक को दीर्घ निश्वास में छिपे हुए सयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा । गीत यदि दूसरे का इतिहास न रहकर वैयक्तिक सुख-दु ख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है ।"

[गीति-काव्य और व्यक्तित्व के विषय में विस्तार के साथ गीति-काव्य के अध्याय में प्रकाश डाला जायगा । यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा ।]

व्यक्तित्व की महत्ता

व्यक्तित्व किसे कहते हैं ? इसका निर्माण किस प्रकार होता है ? व्यक्तित्व और चरित्र में क्या सम्बन्ध है ? दोनो में अन्तर क्या है ? व्यक्तित्व कितने प्रकार का होता है ? ऐसे अनेक प्रश्न उठते रहते हैं । अर्वाचीन आलोचना-पद्धति में मनोवैज्ञानिकता जब से पैर जमाती जा रही है तब से इन प्रश्नो का महत्त्व बढता जा रहा है । आज का आलोचक कवि की कृतियो की आलोचना करके ही सन्तुष्ट नही होता वह कवि-मानस की उन प्रक्रियाओ का विश्लेषण करना चाहता है जिनके बल से रचना सुसम्पन्न हुई । कवि के जिस बौद्धिक विकास

या ह्रास ने उसकी रचनाओ को उत्तरोत्तर प्रगति या अवगति दी उसका परिचय प्राप्त करना भी आलोचना का अग बन गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि "कवि की आलोचना में उसकी रचना की आलोचना तो आवश्यक है ही उसकी बुद्धि-प्रक्रिया, उसके उपकरण एव उसके पूरे व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना भी अनिवार्य समझा जाता है।"[1] अत स्वाभाविक रीति से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व कहते किसे हैं ? व्यक्तित्व की विशद व्याख्या करने के लिए उसके दो रूप विषयि-गत व्यक्तित्व (Subjective Personality) और विषय गत व्यक्तित्व (Objective Personality) को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। व्यक्तित्व के दोनो रूपो को समझने के पूर्व हमें यह देख लेना चाहिए कि आधुनिक आलोचना में इन शब्दो का व्यवहार किस प्रकार किया जा रहा है।

"कहा जाता है कि अमुक कवि की रचना श्रेष्ठ है क्योंकि इससे उनका व्यक्तित्व पूर्णतया अभिव्यक्त होता है।"[2]

"कविता मनोवेगो को खोलकर रख देना नही प्रत्युत उनसे बचना है, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही, प्रत्युत व्यक्तित्व से बचकर निकल जाना है।"[3]

व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

व्यक्तित्व का प्रगाढ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। इसलिए यदि मनोविज्ञान का सहारा लेकर आलोचक कवि की आलोचना करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचे तो वह मनोवैज्ञानिको को भी ग्राह्य बन सकता है। प्रसिद्ध मनोविज्ञान-शास्त्री फ्रायड का कहना है कि कवि का व्यक्तित्व समझने के पूर्व उसकी मानसिक शक्तियो का विश्लेषण आवश्यक है। मानसिक शक्ति के दो भाग हैं

1, Criticism must concern itself, not only with the finished work of art, but also with the work man, his mental activity and his tools,

Herbert Read.

2 The work of so and so is good because it is the perfect expression of his personaliy "

Sir Arthur Quiller Couch

3 Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion, it is not the expression of personality, but an escape from personality

T S Eliot.

चेतन और अवचेतन। इन दोनो के मध्य का भाग पूर्व-चेतन कहा जाता है। इस पूर्व चेतन का एक भाग तो चेतन के स्तर तक पहुँचने की शक्ति रखता है किन्तु दूसरा कभी चेतन तक नही पहुँच पाता। पूर्वचेतना का दूसरा भाग सदा अवचेतना की ओर गतिमान रहता है। फ्रायड[1] का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया की सुसम्बद्ध व्यवस्था होती है जिसको 'अह' नाम से पुकारा जाता है। व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए इस अहवाद या आत्मवाद को समझ लेना आवश्यक है।

यह 'अह' अथवा ईगो (ego) समस्त विचारो, प्रभावो एव सवेदनाओ का सचेतन प्रवाह है। इस 'अह' अथवा सुसम्बद्ध विचार-स्रोत से फ्रायड का दूसरा अभिप्राय उस सचेष्ट नियत्रण से भी है जो मन की कतिपय वृत्तियो को हमारी चेतना से दूर ही नही फेंकता, वरन् उन वृत्तियो के प्रत्यक्षीकरण में भी बाधक एव उनकी क्रिया-शीलता में भी अवरोधक होता है। यह नियत्रण-शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न मात्रा मे होती है। वह एक मानव के क्रिया-कलाप को दूसरे से पृथक् कर देती है, जिसके कारण उसका अपना स्वत्व, अस्तित्व, और व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्तित्व और चरित्र

व्यक्तित्व शब्द से कुछ साम्य रखने वाला दूसरा व्यवहृत शब्द है 'चरित्र' (Character) किन्तु व्यक्तित्व और चरित्र में अन्तर है। हर्बर्ट रीड के अनुसार मानव मे अन्तर्भूत प्रकृति को चरित्र की सज्ञा दी जा सकती है। यही प्रकृति या तो उनके भावोद्रेको और मनोवेगो पर नियत्रण रखती है या उनका दमन करती है। जिसके अभाव में ये मनोवेग मानव के व्यक्तित्व में स्थाई स्थान जमा सकते हैं।

चेतना के प्रवाह में नकारात्मक और स्वीकारात्मक प्रवृत्तियो के सघर्प और सामजस्य के फलस्वरूप चरित्र की निर्मिति होती है। नकारात्मक और स्वीकारात्मक प्रवृत्तियाँ चरित्र-स्रोत को मर्यादित करनेवाली तट-शिलायें हैं।

अब प्रश्न उठता है कि अवाछनीय मनोवेगो पर नियत्रण किस प्रकार किया जाय ? स्वभाव से ही समाज में रहने का अभ्यासी मानव क्या नियत्रण की सुविधा के लिए एकान्त में निवास करने से अपने चरित्र का निर्माण कर

---

1 "In every individual there is a coherent organisation of mental process, which we call his ego

Freud

सकेगा ? तथ्य तो यह है कि किसी अन्तर्जात प्रवृत्ति को उसकी क्रिया के अव-रोध से दबाया नही जा सकता। वही व्यक्ति चरित्र निर्माण कर सकता है जो समाज की भीड-भाड में रहता हुआ पवित्रता की रक्षा करता है। इस विषय में गेटे का मत है—

"बुद्धि का विकास तो एकान्त में होता है किन्तु चरित्र-निर्माण ससार के प्रवाह में होता है।"[1]

चरित्र की परिभाषा देते हुए एक आलोचक लिखते हैं "नियामक सिद्धान्तो के अनुसार मानव की स्वभावजन्य वासनाओ का दमन करके सद्भावो और भावनाओ को स्थायित्व प्रदान करना चरित्र कहलाता है।" इसे दूसरे शब्दो में कह सकते हैं कि चरित्र में सकल्प अन्तर्निहित है। चरित्र के लिए बुद्धि अपेक्षित है। बुद्धिरहित व्यक्ति अर्धविक्षिप्त अथवा चरित्रहीन माना जायगा।

चरित्रनिर्माण के उपकरण

चरित्रनिर्माण में एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए और वह है अनु-भव सम्बन्धी। जिसका चरित्रनिर्मित हो जाता हैं वह फिर आगामी अनुभव से अपने ऊपर किसी प्रकार का बाह्य प्रभाव नही पडने देता। कई विद्वानो का मत है कि चरित्र परिपक्व हो जाने पर किसी प्रकार के नैतिक और आत्मिक विकास के लिए उसमे अवकाश नही रह जाता। यहाँ तक कि उसके मनोवेग भी उसको दूसरी ओर मोड नही सकते। तथ्य तो यह है कि मनोवेगो का कोई दृढ सम्बन्ध चरित्र से नही होता। मनोवेग उन लहरियो के समान हैं जो ऊपर ही एक दूसरे से टकराकर विनष्ट हो जाती हैं, अन्तस्तल को प्रभावित नही कर पाती। इतिहास में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिन्होने मैत्री और प्रेमभाव की उपेक्षा करके न्याय और दृढ सकल्प की रक्षा की है।

चरित्र और व्यक्तित्व का अन्तर

कहना चाहिए कि चरित्र बाहर से गृहीत एक विशेष आदर्श है जिसके लिए व्यक्ति अपने सभी अधिकारो की तिलाजलि देता है। चरित्र का ठीक प्रतिपक्षी व्यक्तित्व (Personality) है जो हमारे मनोवेगो और भावनाओ का विधे-यक बनता है। चरित्र और व्यक्तित्व के इस अन्तर को भली प्रकार समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी प्रकार की शृगारी कविताएं (गीतिकाव्य के सहित) कवि के व्यक्तित्व की उपज होती हैं और वे (कविताएँ) चरित्र-निर्माण

---

1 A talent is formed in solitude, a character in the stream of world

में अवरोधक[1] मानी जाती हैं।

व्यक्तित्व और फ्रायड

हम पूर्व कह आए हैं कि व्यक्तित्व का अर्थ है मानसिक प्रक्रिया में अनुरूपता अथवा एकरूपता की निर्मिति। इस एकरूपता का अर्थ यह नही है कि कोई व्यक्ति सदा-सर्वदा प्रत्येक परिस्थिति में एक प्रकार की ही भावना रखे अथवा एक-सा ही कार्य करता रहे। व्यक्तित्व का अर्थ इससे व्यापक है। वास्तव में व्यक्तित्व का अभिप्राय है अपने आन्तरिक स्वरूप को इस प्रकार दृढ कर लेना कि मनुष्य प्रत्येक परिवर्त्तनशील स्थिति के अनुरूप अपने को मोड सके। व्यक्तित्व का अर्थ अपरिवर्त्तन-शीलता नही, प्रत्युत स्थिति के अनुकूल चलने की वह शक्तिमत्ता है जो मनुष्य को प्रत्येक क्षरण अपना दृष्टिकोरण दिखाने को प्रस्तुत करती है। आदर्श व्यक्तित्व का लक्षण यह है कि वह मनुष्य को इस परिवर्त्तनशील जगत की नित्य नूतन वनने वाली गतिविधि के अनुरूप चलने के लिए उसके विचारो को प्रगति देता रहे।

व्यक्तित्व के नियम मे एमर्सन और गेटे का मत

एमर्सन का कथन है कि जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित हो जाता है वह निरपेक्ष भाव से ऐसी विवेक बुद्धि बना लेता है जो परिस्थितियो के अनुकूल सर्वोत्तम सिद्ध होती है। इसे दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व के वल से मनुष्य नित्य अरुणोदय में ही निवास करता है अर्थात् उसके विचार नित्य नवीन वने रहते हैं, कभी पुराने होते ही नही। और अपने ही नियमो से वँधकर वह असम्वद्धता के गर्त्त में गिरने से वच जाता है। किन्तु ऐसी उच्च धारणा वाला व्यक्तित्व विरला ही देखने में आता है। व्यक्तित्व की पूर्णता और निर्भयता की पराकाष्ठा होने पर माटेन के अनुसार जीवन की यह स्थिति वन जाती है—

"मै जो कुछ करता हूँ उसे सम्यक् रीति से सम्पन्न वनाता हूँ। यह मेरा सहज स्वभाव वन गया है। मैं कदाचित् ही कोई ऐसा कदम उठाता हूँ जिसे तर्क स्वीकार न करे अथवा मेरी आन्तरिक शक्तियो से जो परिचालित न हो। मेरी निर्णायक शक्ति प्रत्येक कार्य का यश अथवा अपयश लेने को तैयार रहती है। इसका कारण यह है कि जन्म से मेरी एक ही साध, एक ही दिशा, एक ही शक्ति मुझे पथ दिखाती आ रही है!"[2]

---

१. शृंगारी कविताएं चरित्रवान् व्यक्ति पढना उचित नहीं समझता।

2 What I do I do thoroughly, as a matter of habit, and make

उक्त प्रकार का व्यक्तित्व बहुत ही दुर्लभ होता है। दैनिक जीवन में हमें ऐसे व्यक्ति विरले ही दिखाई पडते हैं। जिस अहं का हम पूर्व उल्लेख कर आये हैं उसकी थोडी व्याख्या अनिवार्य है। व्यक्तित्व को भली प्रकार समझने के लिए अहं की व्युत्पत्ति समझ लेनी चाहिए। अहं हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान-शक्तियो का समन्वय है जो चेतना मे विद्यमान अनुभव से उत्पन्न होता है, जिसके उद्भव में आन्तरिक दृष्टिकोण का विशेष हाथ रहता है। इस आन्तरिक दृष्टिकोण और चेतना मे विराजमान अनुभव के लिए बाहर से लादा हुआ दबाव काम नही देता। बाहर से बलात् आरोपित बन्धन चरित्र-निर्माण में भले ही सहायक हो किन्तु व्यक्तित्व के लिए जिस 'अहं' की आवश्यकता होती है वह बाहरी दबाव से आविर्भूत या परिपालित नही होता।

'अहं' के निर्माण में जिस निर्णायिका बुद्धि की आवश्यकता पडती है उसे स्वतः हमारी चेतन-शक्तियाँ ढूँढकर निकालती हैं, वे ही उसका निर्वाचन करती हैं; वाह्य-शक्तियो के द्वारा वह मनोनीत नही होती। इस प्रकार व्यक्तित्व का उद्भव जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया में सम्बद्धता होने पर ही दृष्टिगत होता है। वह किसी बाहरी स्वेच्छाचारिणी शक्ति के अनुशासन के बल पर पर सम्भव नही।

व्यक्तित्व की व्यापकता

व्यक्तित्व इतना व्यापक होता है कि इसे किसी परिभाषा की सीमा में बाँधना सहज नही। वह आदर्शों से भी परे अपनी सत्ता रखता है। जब हमारे सक्रिय विचार-शक्तियो के क्रम में सामञ्जस्य हो जाता है, और जब हमारी विविध इच्छाओ और भावो के पारस्परिक सम्बन्ध मे सन्तुलन आ जाता है तब व्यक्तित्व किसी कोने से हमारी ओर झाँकने लगता है।

हम कह आये हैं कि व्यक्तित्व और चरित्र में अन्तर है। व्यक्तित्व का मूल है कुशाग्रबुद्धि (Talent) और चरित्र निर्भर करता है निर्द्धारित सिद्धान्तो Regulative Principle के पालन पर। किसी व्यक्ति में कुशाग्र बुद्धि हो तो

---

one step of it, and I seldom take any step that steals away and hides from my reason, and that is not very nearly guided by all my faculties in agreement, without division or inner revolt My judgement takes all the blame or all the praise for it, and the blame it once takes it takes always, for almost from birth it has been one the same inclination, the same direction, the same strength —Montaigne's Essays

उसके जीवन में भी निर्द्धारित सिद्धान्तो का पालन पाया जाय, यह कोई आवश्यक नही। इसी प्रकार यदि कोई आदमी निश्चित सिद्धान्तो पर अपना जीवन साधने वाला हो तो उसमें बुद्धि की कुशाग्रता हो ही यह भी आवश्यक नही। ये दोनो गुण भिन्न-भिन्न हैं। एक दूसरे पर ही निर्भर हो यह अनिवार्य नही।

कवि में Inspiration प्रतिभज्ञान होता है, उसमें चरित्रवल हो या न हो। इसी प्रातिभ ज्ञान के वल पर वह कभी-कभी सत्य का दर्शन करता है। जितने काल तक वह सत्य का दर्शन करता है उतना समय उसकी काव्य-रचना का सर्वोत्तम क्षण होता है। उस काल में जो कुछ सूझ जाता है उसमें उसका व्यक्तित्व झलकने लगता है।

व्यक्तित्व और आचार्य कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने भी 'वक्रोक्तिजीवितम्' में कवि के व्यक्तित्व पर वल दिया है। वह काव्य की परिभाषा करते हुए लिखते हैं 'कवेः कर्म काव्य'। डा० नगेन्द्र भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका में लिखते हैं कि उनकी (कुन्तक की) यह धारणा तो अत्यन्त दृढ है ही कि काव्य की मूलप्रेरक शक्ति कवि है—उसकी प्रतिभा ही काव्य का एकमात्र आधार है।

"कुन्तक कवि के स्वभाव को काव्य का मूल प्रेरक तत्व मानकर कहते हैं—स्वभावो मूर्घ्निवर्तते।वे कवि के व्यक्तित्व को भी काव्य में स्वीकार कर लेतेहैं।"

व्यक्तित्व दर्शन

कवि के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियो में भी (Inspiration) स्फुरण के क्षण आते हैं। किन्तु सामान्य व्यक्ति और कवि अन्त प्रेरणा या स्फुरण के क्षणो में अन्तर होता है। कवि की अन्त प्रेरणाकी गहनता सामान्यजन से कही अधिक होती है। कवियो की जीवनियो से ये वातें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। वाल्मीकि को भी क्रौंचवध के समय जो प्रातिभ ज्ञान मिला, उनको जो प्रेरणा या अन्तश्चेतना काव्य-रचना की मिली वह सामान्य व्यक्तियो के लिए सम्भव नही। यूरोप का प्रसिद्ध साहित्यिक ल्यूवोक Lubbock कहता है कि "मध्य रात्रि के एकान्त और शात क्षण में वह अपने मस्तिष्क के सवसे भीतरी कक्ष को खोलता है और उस समय वह अपने प्रातिभ ज्ञान के समक्ष जा खडा होता है।"

It is as though for once at an hour of midnight Silence and solitude he opencd the innermost chamber of his mind and stood face to face with his genius

—Mr Lubbock

दूसरे शब्दो में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि एकाग्रता के क्षणो में कवि अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार करता है और उस समय उसे जो प्रेरणा या अन्तश्चेतना मिलती है उसके बल पर वह असामान्य रचना करता है।

कुछ आलोचको का मत है कि केवल प्रातिभ ज्ञान के दर्शन या स्फुरण (Inspiration) से ही कोई व्यक्ति कवि नही बनता। कवि बनने के लिए उन क्षणो का सदुपयोग और उन क्षणो के बार-बार आने का प्रयास भी आवश्यक है। यदि उन अलौकिक क्षणो को योही टाल दिया जाए, उनका उपयोग न किया जाय तो वे व्यर्थ चले जाते हैं। और फिर कदाचित ही लौटकर आते हैं। कवि का आवश्यक गुण है कि वह अपने व्यक्तित्व से अनभिज्ञ न रहे, और साथ-ही-साथ मूलबद्ध इस स्वाभाविक शक्ति को उद्दीप्त भी करता रहे। इस शक्ति को अविभाजित बनाने में ऐसी युक्ति करे कि अन्दर की अन्य शक्तियाँ अथवा प्रवृत्तियाँ विद्रोह न कर उठें।

कलाकार की विभिन्न श्रेणियाँ

प्रत्येक कलाकार को उपर्युक्त सिद्धान्त पर चलना होता है। विभिन्न प्रकार के कलाकारो की मानसिक शक्तियो में अन्तर नही होता; अन्तर केवल उनके उपकरणो और वातावरण में होता है। एक कवि और चित्रकार में अन्तर वाचिक-मौखिक और चित्ररूप-चक्षुदृश्य का है अर्थात् उनकी पद्धतियो या शैलियो में अन्तर नही होता, अन्तर है केवल साधनो में या उपकरणो में।

इन सब बातो से यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकार को चरित्र की रूढि से बचना होता है। चरित्रबल से मनुष्य कार्य-सचालन में पटुता प्राप्त करता है अत वह कर्मठ बनता है।

कीट्स (Keats) ने एक पत्र में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है।

[1] "प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति निष्क्रिय बुद्धिवादी पर उसी प्रकार प्रभाव डालता है जिस प्रकार वायव्य रसायन किसी जड पिण्ड पर, परन्तु उनका कोई निजी अस्तित्व नही होता, न कोई निश्चित चरित्र ही होता है—अपना एक निश्चित अस्तित्व रखने वाले व्यक्ति को 'शक्ति सम्पन्न' व्यक्ति की सज्ञा दी जा सकती है।"

---

1 "Men of Genius are great as certain ethereal chemicals operating on the Mass of neutral intellect, but they have not any individuality, any determined character — I would call the top and head of those who have a proper self Men of Power"

इस आधार पर यदि यह कहा जाय कि कलाकार और कर्मठ व्यक्ति में सैद्धान्तिक विरोध है तो कोई अनुचित न होगा। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो व्यक्तित्वप्रधान कवि और चरित्रप्रधान कवि की रचनाओ में अन्तर स्पष्ट हो जाय। गीतिकाव्य और प्रबन्धकाव्य के रचयिता कवियो की शक्तियो का विश्लेषण करने से यह वात समझ में आ जायगी। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया जा सकता है कि एक ही कवि की कृतियो में यदि दोनो प्रकार की रचनाएँ मिले तो उसे किस श्रेणी मे रखा जाय? तुलसीदास ने गीतिकाव्य और प्रबन्धकाव्य दोनो प्रकार की रचनाएँ की। उन्हे व्यक्तित्व-प्रधान कवि माना जाय अथवा चरित्र-प्रधान?

इसका उत्तर देने के लिए अनेक तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। उनकी दोनो प्रकार की रचनाओ की मात्रा और श्रेष्ठता की तुलना करके भी उत्तर ढूंढा जा सकता है, पर यह कहना अधिक सत्य होगा वि वे सबसे परे, सबसे महान् थे। वे एक लोकोत्तर प्रतिभा के साथ इस ससार में अवतरित हुए। प्रतिकूल परिस्थितियो मे परिपालित होते हुए भी अपनी प्रतिभा को उद्दीप्त करते रहे और अपने व्यक्तित्व एव चरित्र के वल से जनता को मगलकारी सन्देश देकर चले गए। ऐसे महा प्रतिभ मुक्तात्मा महात्मा को न कोई परिभाषा वाँध सकती है, न कोई विज्ञान उनका विश्लेषण कर सकता। शुद्ध-वुद्ध-निरजन रहस्यमय शक्ति की उपासना करते-करते वे महात्मा स्वय शुद्व-वुद्ध निरजन और रहस्यमय वन जाते हैं।

तुलसी का व्यक्तित्व

हम कह आए हैं कि काव्यो से कवि का व्यक्तित्व दमकने लगता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसी के ग्रन्थो से उनका व्यक्तित्व इस प्रकार अभिव्यक्त किया है: "तुलसीदास का व्यक्तित्व उनकेग्रथो में वहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। अत्यन्त विनम्र भाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व के प्रधान तत्व हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य में यह तथ्य भरा पडा है। आराध्य की ऐसी एकनिष्ठ भक्ति, ऐसा अनन्य विश्वास और इतनी अखड आस्था ससार के इतिहास में दुर्लभ है। निरन्तर विष-पान करने से जो व्यक्ति नील-कठ हो गया था, उसके मुँह से आशा और विश्वास की यह अद्भुत वाणी निकली है। इस प्रकार अपने अखड विश्वास और गम्भीर अध्ययन के योग से वे एकदम नवीन जगत् का निर्माण कर सके हैं।"[1]

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य पृष्ठ २२७

तीसरा अध्याय

काव्य के रूप

(भारतीय आचार्यों के मत से)

(१)

काव्य—भारतीय वाङ्मय मे काव्य को सर्वाधिक महत्व मिला है। काव्य-मीमासाकार ने वाङ्मय के दो रूप[1] सिद्ध किए हैं—शास्त्र और काव्य। इन दोनो में से काव्य का इतना व्यापक प्रसार है कि भारतीय आचार्यों ने अत्यन्त प्राचीनकाल से काव्य के स्वरूप का बडा सूक्ष्म विवेचन किया है।

स्वरूप—काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने जो शब्दार्थ (रचना) दोष-रहित, गुण-सहित और अलकार से प्रायः युक्त हो वह 'काव्य' है।[2] ऐसा कहा है तो माना जाएगा कि काव्य के अवयवो का वर्णन मात्र किया गया है। काव्य में शब्द और अर्थ की योजना रहती है। ये दोनो एक-दूसरे पर आधारित हैं।[3] शब्द बिना अर्थ के नही रह सकता और अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द के बिना असम्भव है। किन्तु केवल शब्द और अर्थ का सह-भाव ही काव्य माना गया तो यह लक्षण वैसा ही है जैसे यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमें हाथ, पाँव, नाक, कान तथा प्राण साथ-साथ रहते हैं। काव्य का ऐसा लक्षण स्थूल माना जाएगा। साथ ही रसवत्ता के अभाव में हृदयग्राही परामर्शक भी नही है। पडित-राज जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य' माना है।[4] इस परिभाषा मे मनोहारी अर्थ को बताने वाले शब्द को काव्य माना गया है। ऐसी स्थिति में यदि किसी पद में कुछ शब्द मनोहारी अर्थ देने वाले हो और कुछ न हो तो भी उसे काव्य कहने से अस्वीकार नही किया जा सकता। इसलिए साहित्य दर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने सभी आचार्यो के लक्षणो का सार लेकर अतिव्याप्ति दोष से बचकर एक निर्दोष लक्षण 'रसात्मक-लोको-

---

१ शास्त्र काव्यज्योति वाङ्मयद्विधा। (काव्यमीमासा)

२ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृतीपुन क्वापि। (काव्यप्रकाश)

३ वागर्थाविवसपृक्तौ। (रघुवश)

४ रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्। (रसगगाधर)

तरानन्ददायक वाक्य'[1] को काव्य कहा है । इसमें 'रस' शब्द काव्य के भीतरी तत्त्व का बोधक है ।

काव्य का सम्बन्ध लोक से है । कवि अपनी कृति लोक-रजन के लिए उपस्थित करता है । 'रजन' का अर्थ केवल सुखी, प्रसन्न या उत्फुल्ल करना ही नही है । दु ख की अनुभूति कराकर करुणा उत्पन्न करना, द्रवीभूत करना भी है। कवि सुखात्मक और दु खात्मक दोनो प्रकार के भावो द्वारा लोकरजन करता है । काव्य के भावो में लीन होने से पाठक की या श्रोता की हृदय-वृत्तियाँ विकसित होती हैं । काव्य के द्वारा जन-जन के हृदय में एकात्मता स्थापित होती है । इस 'एकात्मता' का मूल 'सहृदयता' है क्योंकि कविता सहृदय हृदय सवेद्य होती है । सहृदयता का अर्थ है-भाव-ग्राहकता । यदि पाठक, श्रोता तथा दर्शक सहृदय नही तो अनुकार्य (पात्र) के भावो का ग्रहण नही कर सकता । सहृदयता दोनो पक्षो अर्थात् उत्पादक और सामाजिक दोनो के लिए अनिवार्य है । अत काव्य का स्वरूप ठहरता है—भावो का विधान करके रसमग्न करने वाली रचना और काव्य का चरम उद्देश्य हुआ मनोवृत्तियो का शोधन । इस प्रकार काव्य या साहित्य समाज के लिए महत्त्वपूर्ण अग है, उसे कोरे मनोरजन की वस्तु मान लेना और समाज के लिए गौण या अनुपयोगी बताना हृदयहीनता और बुद्धिहीनता का परिचय देना है । जैसे पश्चिम मे कतिपय आलोचको के मतानुसार समाज-तत्त्व की आड में आज काव्य या साहित्य कोरी भावुकता का उद्दीपक मानकर समाज के लिए अनुपयोगी कहा जाने लगा है, और 'कला कला के लिए', जो नारा बुलन्द किया गया वैसे ही हमारे यहाँ धर्म की आड में काव्य को तौला गया था । पर, वस्तुत धर्म का जो लक्ष्य है वही काव्य का भी है । वृत्तियो का परिष्कार ही धर्म का भी लक्ष्य है और काव्य का भी । यथा धर्म में स्वर्ग प्राप्ति तथा नरकादि का भय प्रदर्शित किया जाता है, उसी प्रकार काव्य में भी 'राम की तरह आचरण करना चाहिए रावण की तरह नही ।' यही उद्देश्य निहित होता है ।

काव्य का आनन्द लोकोत्तर या अलौकिक माना जाता है । सासारिक आनन्द क्षणिक या सीमाबद्ध होता है । कुछ समय बाद आनन्द की वह अनुभूति वैसी नही रह जाती जैसी प्रथम क्षण में हुई थी । ससार में पुत्रोत्पत्ति, धनागम, पदोन्नति ये ही आनन्द के विशेष साधन माने गए हैं । पर, देश-काल के अन्तर से ये भी क्षीण हो जाते हैं । काव्य का आनन्द लोकोत्तर होता है । बार-

---

१ वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । (सा० दर्पण)

बार किसी मर्मस्पर्शी प्रसग के पढने पर भी या किसी दृश्य को देखने पर भी हृदय मे उसके प्रति उपराम नही आता। क्योकि यह आनन्द देश, काल और सीमा से परे है। राम-वनवास के प्रसग मे ग्राम-वधुओ के प्रश्न पर सीता ने जो शालीनता के साथ उत्तर दिया है, क्या त्रिकालमें भी वह पुराना पड सकता है ? तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' देखकर नित्य अश्रुपात का कौन लोभ-सवरण कर सकता है ?

काव्य का प्रयोजन—काव्य का प्रयोजन, उत्पादक (कर्ता) और पाठक दोनो के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही करना उपयुक्त है।[1] कवि की दृष्टि से काव्य का मुख्य प्रयोजन यश या आत्म-तृप्ति है। अर्थ-सिद्ध या कार्य-सिद्धि तो गौण[2] है। उत्पादक को जो पक्ष-प्राप्ति होती है वह उसके जीवन तक ही नही रहती, युग-युगान्तर तक वनी रहती है।[3]

कवि का भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है पर उसका जरा-मरण से रहित यश शरीर अमर रहता है।[4] जब तक उस साहित्य का, उस भाषा का, उस जाति का लोप नही होता तब तक अवश्य जीता है। कवि आत्म-तृप्ति से पूर्ण-काम हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस के उपसहार में भी आत्म-तृप्ति को ही प्रधानता दी है।[5]

आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजन को बडे सुन्दर ढग से व्यक्त किया है और यह प्राय. सर्वमान्य भी है।—काव्य से यश-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अमगल से रक्षा, मोक्ष तथा कान्ता के समान उपदेश की प्राप्ति होती है।[6] यश-प्राप्ति के उदाहरण, कालिदास, तुलसी, सूर आदि हैं। धन-प्राप्ति के ज्वलत उदाहरण भूषण, केशव, गग हैं। व्यवहार-ज्ञान तो सारे विज्ञ पाठको को ही मिलता है। सूर्य की स्तुति से मयूर कवि ने कुष्ठरोग से मुक्ति पाई थी,

---

१—काव्यादि स्वार्थमन्यार्थञ्च। —साहित्यसार

२—स्वान्त सुखाय। —तुलसी

३—स्वार्थ चतुर्विधि. कीर्ति संपत्ति तृप्ति मुक्तिवपु' क्रमात्। —साहित्यसार

४—जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः
नास्तियेषां यशः काये जरामरणजं भयम्। ॥ भर्तृहरि ॥

५—मत्वा तद्रघुनाथ नाम निरतं स्वान्तस्तम. शान्तये,
भाषावद्धमिद चकार तुलसी दासस्तथा मानसम् ॥ मानस ॥

६—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्य परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे ॥ काव्य प्रकाश ॥

यह अमगल से रक्षा का उदाहरण है। 'कान्ता समित' का विशेष महत्व है। समित या रीति तीन प्रकार की मानी गई है—प्रभुसमित, सुहृदसमित और कान्ता-समित। प्रभुसमित का अर्थ हुआ स्वामी की भाँति। जिस प्रकार स्वामी अपने सेवको को किसी कार्य के करने या न करने की आज्ञा देता है, उसी प्रकार जो रचना विधि और निषेध का विधान करने वाली हो उसे प्रभुसमित उपदेश कहेगे। इसके उदाहरण हैं वेद और शास्त्र। सुहृदसमित का अर्थ है मित्र की भाँति। मित्र उपदेश देते समय अनेक उदाहरण और दृष्टान्त देकर लाभ-हानि दोनो पक्षो को उपस्थित कर समझाता है। इसी प्रकार जो रचना उदाहरणो और दृष्टान्तो द्वारा विषय का स्पष्टीकरण करती है वह सुहृदसमित उपदेश देने वाली कही जाती है—जैसे महाभारतादि पुराण। कान्ता कोई उपदेश विधि-निषेध या दृष्टान्त द्वारा सीधे नही कहती, वह तो भाव-भगिमा से केवल इगित करती है। इसी प्रकार जो रचना सकेत द्वारा साध्य का ज्ञान कराती हो उसे काता समित उपदेश देने वाली रचना कहते हैं। काव्य इसी प्रकार की रचना है। काव्य स्पष्ट रूप से कोई बात नही कहता। वह अपना अभिप्रेत सकेत द्वारा व्यक्त करता है। जैसे 'रामचरित मानस' का साध्य यह है कि राम की तरह लोकोप-कारादि का आचरण करना चाहिए, रावण की भाँति दुराचरण नही करना चाहिए। यह सकेत से ऐसा कहा गया है। वेद, शास्त्र, पुराणादि का प्रभाव भले ही किसी पर न पडे, पर काव्य का अवश्य पडता है। इसका प्रधान कारण यह है कि काव्य हृदय की भाव-पद्धति पर चलता है किन्तु अन्य रचनाएँ वुद्धि की तर्क-पद्धति पर। भाव पद्धति का प्रभाव अत्यधिक पडता है। तर्क पद्धति का वहुत कम या कभी-कभी विलकुल नही। इसी कारण महाभारत या अन्य पुराण काव्यमय अनेक अशो से विभूषित होते हुए भी काव्य नही माने गए हैं।

काव्य के भेद—काव्य के भेद तीन प्रकार से किए जा सकते हैं—शैली की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से और वध की दृष्टि से। शैली के विचार से काव्य के तीन भेद होगे—पद्य, गद्य, और मिश्र। रचना की वह शैली जिसमें छन्दो का विधान किया जाता है 'पद्य' कहलाती है। इसमें व्याकरण द्वारा स्वीकृत सामान्य क्रम का उल्लघन हो सकता है और रचयिता को ऐसी छूट दी जाती है जिससे भाषा के सामान्य स्वीकृत नियमो का भी उलघन कर सकता है।[1] 'गद्य' वह शैली है जिसमें व्याकरण के नियमानुसार वाक्यो का विन्यास किया जाता है। 'कविता' पद्य में लिखी जाती है और उपन्यास, कहानी, निवन्धादि गद्य

१—अपि माष मषं कुर्यात् छन्दोभङ्ग न कारयेत्। (प्रसिद्धि)

में। नाटको में पद्य और गद्य दोनो शैलिया चलती हैं। प्राचीन काल मे गद्य की रचना पद्य-रचना से भी कठिन मानी जाती थी। रचनाकार की परख के लिए गद्य शैली एक कसौटी मानी जाती थी।[1] मिश्र-काव्य गद्य और पद्य दोनो शैलियो का सम्मिलित रूप है। प्राचीन काल में इसे 'चम्पू'[2] कहते थे। जैसे 'देशराज चरित' सस्कृत का प्रसिद्ध चम्पू ग्रन्थ है। सस्कृत के ही अनुकरण पर स्वर्गीय प्रसाद जी ने 'उर्वशी' नाम का एक चम्पू लिखा था। पर इस शैली का प्रचलन नही के बराबर हुआ। नाटक में गद्य और पद्य दोनो शैलियाँ प्रयुक्त होती हैं अत इसे मिश्र के अन्तर्गत मान सकते हैं। पर, चम्पू और नाटक में भेद है। चम्पू में अलकार का चमत्कार, समास का गु फन तथा कल्पना का विशेप प्रकार का उद्रे य रखा जाता है किन्तु नाटक मे 'सवाद' की प्रधानता होती है। साथ ही 'चम्पू' श्रव्य काव्य का भेद है, अत नाटक को 'चम्पू' नही कहा जा सकता। क्योकि वह तो दृश्य काव्य है। इन सभी शैलियो को मिलाकर बाबू मैथलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' नामक प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। अतः इसे चम्पू कह सकते हैं। कभी हिन्दी नाटक पद्य शैली पर ही लिखे गये थे। अब शैली से इतना उपराम हुआ है कि नाटको से पद्य को उडा ही दिया गया है। अब तो केवल गद्य शली पर ही नाटक लिखे जा रहे हैं।

अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के तीन प्रकार हैं—उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य। प्रत्येक रचना का कोश व्याकरणादि सम्मत जो प्रसिद्धअर्थ निकलता है उसे 'मुख्यार्थ'[3] कहते हैं। कभी-कभी मुख्यार्थ के अतिरिक्त उन्ही शब्दो से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है, इसे 'व्यग्यार्थ' कहते हैं। कही मुख्यार्थ मे ही चमत्कार दिखाई देता है, कही दोनो का चमत्कार समान रूप मे होता है और कही मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ मे अधिक चमत्कार होता है।

उत्तम-काव्य—जहाँ 'व्यग्यार्थ' मुख्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी होता है, उस रचना को उत्तम या ध्वनि काव्य[4] कहते हैं।

यथा—अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध, और आँखो में पानी।।—यशोधरा

गुप्त जी ने यशोधरा की वियोगावस्था पर ये पक्तियाँ लिखी हैं। इस पद में वाच्यार्थ तो यही है कि 'नारी-जीवन मे दो बातें मुख्य हैं—आँचल में दूध और आँखो में आँसू'। व्यग्यार्थ है—नारी-जीवन में दो बातें प्रधान होती हैं, वात्सल्य और

१—गद्यं कवीना निकष वदन्ति। —प्रसिद्धि
२—गद्य-पद्य-मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। —सा०दर्पण
३—साक्षात् सकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचक। —काव्यप्रकाश
४—इदमुत्तममतिशयिनिव्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधै. कथित.।—काव्यप्रकाश

वेदना। यशोधरा पुत्र राहुल के लिए एक ओर वात्सल्य उडेल रही है तो दूसरी ओर सिद्धार्थ के लिए विरह-वेदना के कारण आँखो में आँसू भी लिए है। यहाँ व्यंग्यार्थ में चमत्कार है, वाच्यार्थ में नही।

मध्यम-काव्य—जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के तुल्य या उससे दबता हुआ होता है, उसे 'मध्यम-काव्य' कहते हैं। व्यंग्यार्थ गौण (अप्रधान) रहने के कारण 'गुणीभूतव्यंग्य' भी कहते हैं।

यथा—रघुबर बिरहानल तपे, सह्य शैल के अन्त।
सुख सों सोये शिशर सें कपि कोपे हनुमंत॥—हिन्दी रसगगाधर

वाक्यार्थ है—'जाडे की ऋतु में राम की विरहाग्नि में तपे हुए 'सह्य' नामक पर्वत पर सुख से सोये हुए बानर हनुमान पर क्रुद्ध हुए'। व्यंग्यार्थ है—'हनुमान ने सीता का कुशल समाचार जब राम को सुनाया तो राम की विरह-ज्वाला शान्त हुई, इससे सह्य पर्वत पर शीत की अधिकता का अनुभव करने के कारण वानरो का हनुमान पर क्रोध करना सगत हुआ। यहाँ व्यंग्यार्थ के समझ में आने पर ही 'हनुमान पर वानरो का क्रुद्ध होना' रूपी वाच्यार्थ सिद्ध होता है। अतः वाच्यार्थ का साधक होने के कारण व्यंग्यार्थ गौण हो गया। परन्तु गौण होने पर भी व्यंग्यार्थ का चमत्कार महत्त्वपूर्ण है।

अधम या चित्र-काव्य—जिस काव्य में केवल वाच्यार्थ में ही चमत्कार पाया जाता है, व्यंग्यार्थ का नितान्त अभाव होता है, उसे 'अधम' या 'चित्र-काव्य' कहते हैं, ऐसे काव्य में अलकार की प्रधानता रहती है, जिसका सम्बन्ध शब्द अर्थात् काव्य के बाहरी स्वरूप से रहता है। वाच्यार्थ में चमत्कार अवश्य होता है पर व्यंग्य के अभाव मे इसे हीन ही माना जाता है।

बंध के विचार से—बध के विचार से रचनाएँ दो प्रकार की देखी जाती हैं—एक प्रबध और दूसरी निर्बंध। जिस रचना में कोई कथा क्रम-बद्ध कही जाती है, उसे 'प्रबन्ध काव्य' कहते हैं। जिसमें कोई विशेष कथा नही होती और जो स्वच्छन्द रूप से किसी पद्य या गद्य खण्ड के द्वारा कोई रस या भाव को व्यक्त करता है उसे 'निर्बंध' या 'मुक्तक' कहते हैं। प्रबध के भी तीन रूप पाये जाते हैं—एक तो ऐसी रचना होती है जिसमें पूर्ण जीवन-वृत्त विस्तार के साथ वर्णित होता है। ऐसी रचना को 'महाकाव्य'[१] कहते हैं। महाकाव्य

१—(क) सर्ग बन्धो महाकाव्यम् तत्रैको नायक सुरः।
(ख) शृंगार वीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
(ग) आदौनमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा।
(घ) सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथाया सूचनं भवेत्।

सर्ग अर्थात् अध्यायो में बँटा होना चाहिए। एक नायक हो। नायक देवता, कुलीन क्षत्रिय होना चाहिए। शृगार, वीर अथवा शान्त इनमें से कोई प्रधान रस होना चाहिए। अन्य रस अग बनकर आएँ। सन्धियाँ सभी हो। आरम्भ में आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मगलाचरण हो। सर्ग न बहुत बडे हो, न अधिक छोटे। सर्ग सख्या कम से कम आठ हो। सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना हो। सध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अधकार, दिन प्रात - काल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन समुद्रादि का वर्णन महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं। किन्तु कही ऐसा न हो कि कवि उक्त वर्णनो को ही काव्य का लक्षण मानकर इन्ही की योजना मे दत्तचित्त हो जायें और रस की अभिव्यक्ति पर ध्यान ही न दें।[1] जैसा 'रामचन्द्रिका' में केशवदास जी ने इन वर्णनो को ही ध्यान में रखा। 'हरिऔध जी' ने 'प्रिय-प्रवास' का वर्णन किया और करील के कुजो का वर्णन ही नही। जिस रचना मे खण्डजीवन महाकाव्य की ही शैली में वर्णित हो उसे 'खण्ड-काव्य' कहते हैं। जैसे सस्कृत में 'मेघदूत' तथा गुप्त जी का 'जयद्रथ वध'। हिन्दी में कुछ ऐसी भी रचनाएँ हुई हैं जिनमें जीवनवृत्त तो पूर्ण लिया गया है, पर महाकाव्य की भाँति वस्तु का विस्तार नही दिखाई देता। ऐसी रचनाओ में जीवन का कोई एक ही पक्ष विस्तार से प्रदर्शित किया जाता है। इन्हें 'एकार्थ काव्य' कहना उपयुक्त[2] होगा। प्रिय प्रवास, साकेत, वैदेही वनवास, कामायनी आदि इसी प्रकार की रचानाएँ हैं।
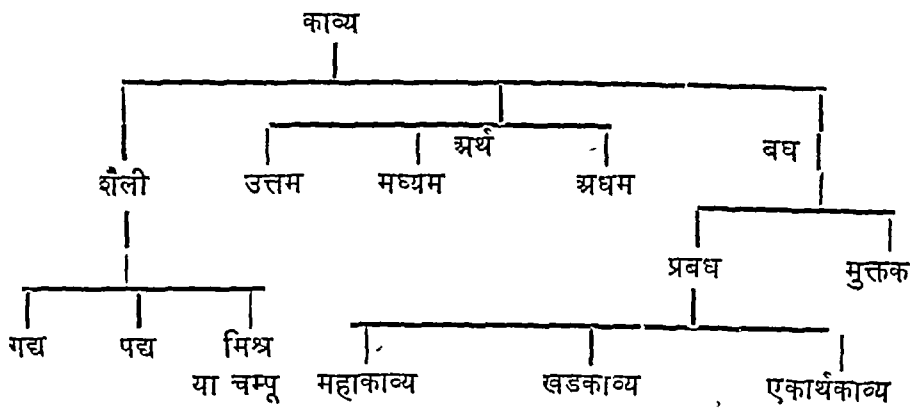
१—सधिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
नतुकेवलया शास्त्र स्थिति संपादनेच्छया।—ध्वन्यालोक

२—भाषा विभाषा नियमात् काव्यं सर्ग समुत्थितम्।
एकार्थ प्रवणं. पद्यं. सन्धिसामग्र्य वर्जितम्।—सा० दर्पण

रस–साहित्य के मूल मे एक ऐसी प्रवृत्ति होती है जो सभ्य मानव समाज में सर्वत्र पाई जाती है। और जिससे साहित्य मे एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम 'सौंदर्य की भावना' कहते हैं। सौन्दर्य-प्रियता की ही सहायता से मनुष्य अपने उद्गारो में 'रस' भर देता है जिससे एक प्रकार के अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। जिसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा जाता है। रस का सम्बन्ध है अनुभूति से। यह अनुभूति दो प्रकार की होती है· एक को साक्षात् या प्रत्यक्षानुभूति कह सकते हैं और दूसरी को काव्यानुभूति या रसानुभूति। अपने व्यक्तिगत सम्बन्धो से जीवन में क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावो की जो अनुभूति करते हैं, वह प्रत्यक्षानुभूति होती है। काव्य के पढने या नाटक के देखने से जो हमारे हृदय में क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भाव जगते हैं, इसे काव्यानुभूति या रसानुभूति कहेगे। प्रत्यक्षानुभूति दो प्रकार की होती है। सुखात्मक और दु खात्मक। सुखात्मक की ओर तो हम प्रवृत्त होते हैं पर दु खात्मक से हम हट जाते हैं। अत वह निवृत्ति-मूलक हुआ। किन्तु काव्य के पढने या नाटक के देखने से सुखात्मक या दु.खात्मक किसी प्रकार के भाव की अनुभूति जब हृदय में होती है तब मन की केवल एक ही स्थिति होती है। वह इन दोनो प्रकारो मे रमता है। मन के रमने के कारण यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति से परिष्कृत कही जा सकती है। मन के इसी रमण के कारण ही इस अनुभूति को 'रस' कहा जाता है।

रस की स्थिति दर्शक या पाठक में ही हो सकती है तथापि प्राचीन आचार्यों ने अपने विभिन्न प्रकार के मत प्रदर्शित किए हैं। इसका विवेचन दृश्य-काव्य के आधार पर समीचीन होगा। तीन प्रकार के व्यक्ति भावो का अनुभव करनेवाले दिखाई देते हैं।

१—जिनका चरित्र नाटको में वर्णित होता है। अर्थात् जिनका रगमच पर अनुकरण किया जाता है इन्हे 'अनुकार्य' कहते हैं, जैसे दुष्यन्तादि।

२—वे जो अनुकरण करते हैं। ये अभिनेता या नट कहलाते हैं।

३—दर्शक या सामाजिक। रस की स्थिति का विचार करते हुए कुछ लोगो ने उसे अनुकार्य में माना, कुछने अनुकार्य और अभिनेता दोनो मे तथा कुछ लोगो ने केवल दर्शक या पाठक में ही। इस प्रकार चार सिद्धान्त माने गये। आचार्य भट्टलोल्लट का 'उत्पत्ति वाद', आचार्य शकुक का 'अनुमितिवाद', आचार्य भट्टनायक का 'मुक्तिवाद', और अभिनवगुप्तपादाचार्य का 'अभिव्यक्तिवाद'।

आचार्य भट्टलोल्लट–आपके विचार से रस की स्थिति अनुकार्य मे ही होती है। अनु-

कार्यों के अनुरूप वेश-भूषा, वाणी-भगिमा के द्वारा अभिनेता जब रगमच पर उनके कार्यों का अनुकरण करते हैं तो उन अभिनेताओ को ही दर्शक लोग अनुकार्य समझ लेते हैं। अनुकार्यों के भावो की नटो मे उत्पत्ति हो जाती है। इस विलक्षणता को देखकर दर्शक का हृदय भी चमत्कृत हो उठता है। उसके हृदय का केवल रजन होता है, उसमें रस की स्थिति नही होती।

आचार्य शकुक—शकुक ने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा कि अनुकार्य में रसोत्पत्ति मानना विलक्षण बात है। अत मानना चाहिए कि अभिनेताओ की वेश-भूषा से अनुकार्य की अवस्था का अनुमान करके दर्शक आनन्दित होते हैं। इस प्रकार के अनुमान से उनका चित्त विशेष चमत्कृत होता है। इसको 'चित्रतुरगन्याय' से समझाया जासकता है। जैसे—चित्र में बने घोडे को देखकर लोग कहते हैं कि यह घोडा दौड रहा है यद्यपि वह चित्र लिखित स्थिर है, उसी प्रकार यद्यपि अभिनेता अनुकार्य नही होते तथापि दर्शक उन्हे अनुकार्य ही मान लेता है। और इस स्वीकृति के साथ-साथ अभिनेता में उनके भावो का भी अनुमान कर लेता है।

आचार्य भट्टनायक—भट्टनायक ने 'अनुमितिवाद' का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि पाठक या दर्शक अनुकार्य के भावो का अभिनेता में अनुमान करके आनन्दित होता है तो उसका ऐसा आनन्दित होना व्यर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि अनुमान से केवल आश्चर्य ही हो सकता है। दर्शको में विभिन्न प्रकार की जो चेष्टाएँ होती हैं वे न होंगी। इसलिए यह निश्चित है कि रस की स्थिति दर्शक में ही होती है। इसे समझाने के लिए उन्होंने दो प्रकार की शक्तियो की कल्पना की। उनकी मान्यता है कि काव्य में वर्णित विषयो में एक ऐसी शक्ति हो जाती है जिससे वे दूसरो के भोगने या ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। इस शक्ति का नाम 'भोजकवृत्ति' है। साथ ही यह भी बतलाया कि काव्य पढते या नाटक देखते समय पाठक या दर्शक के मन में ऐसी वृत्ति जगती है जो उसे काव्यार्थ ग्रहण करने योग्य बना देती है। उसका नाम 'भोगवृत्ति' है। भोजक वृत्ति द्वारा गुरु, देव या श्रद्धेय अनुकार्य के विशेषत्व का आवरण हट जाता है और वे पूज्य न रहकर एक साधारण व्यक्तिमात्र रह जाते हैं। ऐसे ही पाठक या दर्शक भी अपनी व्यक्तिगत विशेषता त्यागकर केवल एक साधारण व्यक्ति रह जाता है। रजस्, तमस् भाव दब जाते हैं, केवल सत्वगुण की ही प्रधानता रह जाती है। इस प्रकार अनुकार्य के और दर्शक के विशेषत्व से रहित होकर केवल 'साधारण' रह जाने से दोनो का 'साधारणीकरण' हो जाता है और दर्शक अनुकार्य के भावोका रस—रूपमें आनन्द लेता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य--भट्टनायक के सिद्धान्त से अभिनवगुप्तपादाचार्य का कोई विशेष वैमत्य नही है। इनका कहना है कि भट्टनायक ने भोजक और भोग-वृत्ति को व्यर्थ माना है। इन्होने अपना 'अभिव्यक्तिवाद' दिखलाते हुए यह बतलाया कि काव्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से व्यञ्जना नामक ऐसी वृत्ति है जिसकी सीमा का विस्तार करने से ही काम चल जाता है। अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार पाठक या दर्शक में विभिन्न प्रकार के भाव वासना-रूप में पहले से ही स्थित रहते हैं।[1] काव्य केवल उन वासनाओ को उद्बुद्ध कर देता है। अर्थात् ये वासनाएँ अव्यक्त रूप में बराबर स्थित रहती हैं, काव्य के प्रदर्शन से केवल उनकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

उक्त सभी सिद्धान्तो में से अभिनवगुप्तपादाचार्य का ही सिद्धात समीचीन माना गया है और इन्ही की रस-परिपाटी अन्य आचार्यों ने स्वीकृत की है।

रस की निष्पत्ति---भरतमुनि ने विभाव, अनुभाव और सचारीभाव के सयोग से रस की निष्पत्ति मानी है।[2] निष्पत्ति का अर्थ प्रकाश में आना है। जैसे अधेरे में कोई वस्तु स्थित रहते हुए भी हमें दृष्टिगोचर नही होती पर प्रकाश में आते ही स्पष्ट दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार विभावादि उपकरणो से बीज-रूप में स्थित रत्यादिभाव लौकिक आवरण के हटते ही 'रसवत्ता'[3] को प्राप्त हो जाते हैं। विभाव, अनुभाव, सचारी भावो से व्यक्त होकर स्थायी भाव सहृदयो के हृदय में इसको प्राप्त होता है। इसमें व्यक्त का अर्थ है परिणत होना। जैसे 'दध्यादिन्याय' से दूध ही दही रूप में व्यक्त होता है।

रस के अवयव---रस के चार अवयव माने गए हैं--विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और सचारीभाव।

विभाव---का अर्थ है कारण, हेतु या निमित्त। जो लोक में या काव्य-नाटकादि में हृदय की वृत्तियो को उद्बुद्ध करते हैं वे विभाव कहलाते हैं।[4] ये दो प्रकार के होते हैं---आलम्बन और उद्दीपन। जिसके आधार पर कोई मानसिक स्थिति टिकती है उसे 'आलम्बन' कहते हैं। जहाँ यह मानसिक स्थिति

१---विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण।
व्यक्तस्तैर्विभाद्यै स्थायी भावोरसः स्मृत ॥---काव्यप्रकाश।

२---विभावानुभाव-व्यभिचारि सयोगात् रसनिष्पत्तिः।---भरतमुनि।

३---विभावेनानुभावेन व्यक्त संचारिणातथा।
रसतामेति रत्यादि स्थायीभाव सचेतसाम् ॥---सा० दर्पण।

४---रत्याद्युद्वोधकालोके विभावा. काव्यनाट्ययो.।---सा० दर्पण।

दिखाई देती है उसे 'आश्रय' कहते हैं। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में 'रति' पैदा हुई। इसमें शकुन्तला आलम्बन हुई, दुष्यन्त आश्रय। इन दोनो पक्षो में कुछ ऐसी चेष्टाएँ और व्यापार होते हैं जो एक दूसरे के लिये सहायक प्रतीत होते हैं। आलम्बन में जो चेष्टाएँ होती हैं उन्हे 'उद्दीपन' कहते हैं और आश्रय में जो चेष्टाएँ होती हैं उन्हे 'अनुभाव' कहते हैं। उद्दीपन भी दो प्रकार के होते हैं एक तो आलम्बनगत चेष्टाएँ और दूसरे प्राकृतिक या वाह्य परिस्थिति-जन्य।

अनुभाव--अनुभाव भी मुख्यत दो प्रकार के होते हैं एक तो आश्रय की चेष्टाओ के रूप में और दूसरे उक्तियो के रूप में। अनुभाव के अधिक से अधिक चार भेद हो सकते हैं--सात्त्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य। सात्त्विक अनुभाव वे हैं जो स्वत जागरित होते हैं, जैसे--स्वेद, रोमाच, कम्पन, विवर्णता आदि। कायिक अनुभाव में भ्रू-सचालन, हस्तविक्षेप, ओष्ठ-दशन, कटाक्षादि हैं। मानसिक अनुभाव में प्रमोद, विव्वोक, असूया, खिन्नता आदि आते हैं। आहार्य मे वेश-विन्यास आदि माने जाते हैं।

स्थायी भाव--ये नाटक में आठ होते हैं किन्तु काव्य में नौ माने गए हैं--रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम' या निर्वेद,[1] ये ही स्थायी भाव परिस्थितिविशेष पाकर शृगारादि नवरसो का रूप धारण कर लेते हैं। ये विरोधी और अविरोधी दोनो प्रकार की स्थितियो में निरन्तर 'रसावस्था' तक बने रहते हैं।

सचारीभाव--ये स्थायीभावो मे आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। स्थायीभाव स्थिर रहते हैं और ये आते-जाते रहते हैं। दूसरे रसो में भी ये आते जाते रहते हैं, इसलिए 'व्यभिचारी भाव' कहलाते हैं। इनकी सख्या बहुत हो सकती है, किन्तु काव्य मे शास्त्र-चर्चा की सुविधा के लिए तेतीस सचारी कहे गए हैं। महाकवि 'देव' ने 'भाव विलास' में 'छल' नामक चौतीसवाँ सचारी भाव लिखा तो वहुत से लोगो ने समझा कि यह कोई वहुत वडा अन्वेषण है। पर वात ऐसी नही है। छल ही क्या दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि न जाने कितने भाव हैं जिनकी गणना सचारियो में नही है पर उनका विधान समर्थ कवियो की रचनाओ में देखा जाता है। दूसरे, देव ने 'छल' भी स्वत अपनी कल्पना से नही प्राप्त किया। भानुभट्ट की 'रसतरगिणी' में छल के साथ ही साथ और भी कई सचारियो का उल्लेख है,

---

१--रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा।
जुगुप्साविस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ता शमोऽपिच॥--सा० दर्पण।

जिनका इन्ही तेंतीसो में अन्तर्भाव हो जाता है। छल को इन्होने 'अवहित्था' में अन्तर्भूत किया है।

काव्य की आत्मा—काव्य की आत्मा की जिज्ञासा से पहले हमें उसके स्वरूप का निर्धारण करना आवश्यक होगा। शब्द और अर्थ ये दोनो काव्य के शरीर माने गए हैं। ये दोनो अभिन्न हैं, एक के बिना दूसरे की सत्ता असम्भव है। शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना दर्शनशास्त्रियो के लिए भले ही सगत हो, पर, आत्मा के बिना शृगार की आलम्बनस्वरूपा लालित्य-लावण्यमयी ललनाओ के कोमल-कान्त-कमनीय कलेवर भी हेय और त्याज्य हैं। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है। इस सम्बन्ध में प्राय पाँच सम्प्रदायो का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
१—अलङ्कार सम्प्रदाय	दण्डी, भामह आदि
२—वक्रोक्ति ,,	कुन्तल या कुन्तक
३—रीति ,,	वामन
४—ध्वनि ,,	आनन्दवर्द्धन
५—रस ,,	भरत मुनि, विश्वनाथ

अलंकार सम्प्रदाय—'अलकरोति इति अलकार ।' अलकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। पर अलकार साधन हैं, साध्य नही हो सकते। *अलकार काव्य के शोभा विधायक हैं*[1] इसे कौन अस्वीकार करेगा, पर इसको काव्य की आत्मा मानना सगत नही है। अलकारवादियो ने स्वय 'रसवत्' और 'प्रेयान्' अलकारो द्वारा 'रस' और 'भाव' के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अतः अलकार अगी नही बन सकते। वे चमत्कार विधायक ही हैं अत चमत्कार-मात्र स्वय साध्य नही हो सकता है। अलकारवादी रुद्रट ने कहा है कि काव्य को

१—(क) **काव्य शोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते ।**

—दडी

(ख) **अंगी करोति यं काव्य शब्दार्थवन लंकृति,**
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।

—चन्द्रालोक

रसयुक्त होना चाहिए, चाहे उसके लिए महान् प्रयत्न भी करना पडे।[1]

वक्रोक्ति सम्प्रदाय[2]—इस सम्प्रदायवाले वक्रोक्ति को विदग्ध लोगो की वाणी कहते हैं जो जन साधारण की सरल उक्ति से भिन्न होती है। कुन्तक ने जो वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ लिया है, उस अर्थ में वह सभी अलकारो की माता बन जाती है। 'कोऽलकारोऽनयाविना'। उन्होंने उसे कवि कौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता कहा है। इस प्रकार इसका समावेश अलकार-पद्धति में ही किया जा सकता है। अन्त में कुन्तक ने भङ्ग्यन्तर से रस की ही मुख्यता स्वीकार की है। काव्य में कथा को मुख्यता न देकर रस को ही मुख्यता दी है।[3] उसी के कारण कवियो की वाणी जीवित है।

रीति सम्प्रदाय—वामन ने रीति को काव्य की आत्मा[4] माना है और 'विशिष्ट पद-रचना' को रीति कहा है। यह विशिष्टता गुणो में है और काव्य-शोभा के उत्पन्न करने वाले धर्मों को गुण[5] कहा गया है। गुण और रीति दोनो ही अन्त में साध्य नही रहते, वरन् शोभा के साधक बन जाते हैं। वामन ने अलकारो के कारण काव्य की ग्राहकता[6] बतलाई है। वामन ने रसो को माना है किन्तु दण्डी आदि की भाँति रसवत् अलकार के अन्तर्गत नही, वरन् कान्ति गुण के सम्बन्ध में उनका उल्लेख[7] किया है।

ध्वनि सम्प्रदाय—ध्वनिवादी काव्य की आत्मा 'ध्वनि'[8] मानते हैं। ध्वनि क्या

१—तस्मात्तत्कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

—रुद्रट

२—वक्रोक्ति काव्य जीवितम्।

—कुन्तक

३—निरन्तर रसोद्गारगर्भसन्दर्भ निर्भरा',
गिर कवीनां जीवन्ति न कथा मात्रमाश्रिता।

—कुन्तक

४—रीतिरात्मा काव्यस्य।

—वामन

५—काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा'।

—वामन

६—काव्यम् ग्राह्यमलकारात्।

—वामन

७—दीप्तरसत्वं कान्ति।

—वामन

८—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति।

—आनन्दवर्द्धन

है? अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना नाम की एक तीसरी शक्ति मानी गई है। व्यञ्जना का अर्थ है—एक विशेष रूप से प्रभाव वाली अञ्जना (शक्ति) जिसके कारण एक नया अर्थ प्रकाशित होने लगे। लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में यही भेद है कि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा का व्यापार चलता है किन्तु व्यजना-व्यापार में मुख्यार्थ के बाध होने की आवश्यकता ही नही है। वह अर्थ ऊपरी तह पर नही होता है परन्तु उसमें झलकता दिखाई देता है। जहां पर अभिधा का अर्थ व्यञ्जना से दब जाता है वही रचना 'ध्वनि' कही जाती है।

इसी ध्वनि के चमत्कार के आधार पर तो काव्य के तीन भेद माने गये—ध्वनिकाव्य (उत्तम), गुणीभूत व्यग्य (मध्यम) और चित्रकाव्य (अधम)। यह ध्वनिसम्प्रदाय की उदारता है कि वे ध्वनि-विहीन शब्दो को भी काव्य की श्रेणी मे रखते हैं। क्षण-क्षण मे नवीनता धारण करनेवाला सौन्दर्य वा रमणीयता का जो लक्षण है वही ध्वनि में भी घटता है।[1] केवल हाथ-पैर, नाक-कान से पूर्ण होना ही सौन्दर्य नही है। सौन्दर्य उससे ऊपर की चीज है—

वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान।

ध्वनि उसी अवर्णनीय 'औरे कछु' में आती है। ध्वनि को ही प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं। ध्वनि, सौन्दर्योत्पादन और रस-सृष्टि में प्रधानतम साधन है किन्तु रस का स्थान नही ले सकती। अलकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सभी सौन्दर्य के साधन हैं। सौन्दर्य-आस्वादन का अन्तिम फल है आनन्द। वह रस ही तो है। 'रसो वै स, रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति।' रस स्वय ही साध्य है।

रस-सम्प्रदाय—ध्वनि और रस सम्प्रदाय में प्रतिद्वन्द्विता अवश्य है किन्तु उनकी प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढी हुई नही है कि समन्वय न हो सके। ध्वनि का विभाजन आचार्यों ने तीन प्रकार से किया है—वस्तु ध्वनि, अलकार ध्वनि और रस ध्वनि।

इन तीनो भेदो मे रस ध्वनि को जो असलक्ष्य-क्रम-व्यग-ध्वनि के अन्तर्गत है, अधिक महत्व दिया गया है। रस में ध्वनि की तात्कालिक सिद्धि है। उसमें

१—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया.।

व्यग्यार्थ ध्वनित होने की गति ऐसी तीव्र होती है जैसी कमल-दलो को सूई से भेदने की यह क्रम नही प्रतीत होता कि किस सख्या के पत्र तक सूई ने भेदन किया है। इसी प्रकार पूर्वापर का क्रम दिखाई ही नही देता है। ध्वनिकार ने कहा है कि जैसे वसन्त में वृक्ष नये और हरे-भरे दिखाई देते हैं वैसे ही रस का आश्रय ले लेने से पहले से देखे हुए अर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं।

आचार्यमम्मटा ने ध्वनि के सिद्धान्त को मानते हुए भी रस का प्राधान्य स्वीकार किया है। कवि भी भारती की वन्दना करते हुए उसे 'आह्लादैकमयी' और 'नवरसरुचिरा' कहा है। इतना ही नही, उन्होने तो दोष, गुण और अलकारो की परिभाषा भी रस का ही आश्रय लेकर दी है। जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि गुण हैं, उसी प्रकार काव्य के अगी रस में हमेशा रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं।

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा. शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा. ॥

—काव्य प्रकाश

उपर्युक्त विवेचन से अलकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि अभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं। यह अभिव्यक्ति ध्वनि-क्रिया द्वारा रस की ही होती है। रस अर्थात् आनन्द तो उसका निजी रूप है। वह रमणीयता का परम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थस्वरूपा ध्वनि का भी विश्राम स्थल है। इसलिए वह परमार्थ है, स्वय प्रकाश्य, चिन्मय, अखण्ड, ब्रह्मानन्द सहोदर है, 'रसो वै स'।[1]

रसों की सख्या—रसो की सख्या के विपय में भी आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। भरतमुनि के प्रधान चार रस माने हैं—शृगार, वीर, वीभत्स और रौद्र। इनसे चार और रसो का उदय होता है। शृगार से हास्य का, वीर से अद्भुत का, वीभत्स से भयकर का और रौद्र से करुण का। इस प्रकार आठ रस हुए। नाटको में 'शान्त' को छोडकर आठ ही रस माने गए हैं, पर काव्य के अन्य अगो में नवरस का विधान है शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। ये नवो रस स्थायी भावो की ही परिणति हैं जो विभावादि के सयोग से रस रूप मे व्यक्त होते हैं। अत ये नौव स्थायी-

---

१—**सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः**
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥—सा० दर्पण।

भाव[1]—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम ही रसो के मूल हैं। कुछ आचार्यों ने 'वात्सल्य' को दसवाँ रस स्वीकार किया है। प्राचीन आचार्य इस रस के प्रति उदासीन नही थे। पर, उन्होने पुत्रादि के प्रति रति (वात्सल्य) रसावस्था तक आगे चलकर मान ली है। इस रस का स्थायीभाव 'वत्सल' है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो 'आनन्द' और 'सौख्य' दो और रसो को स्वीकार किया है।

रसराज—रसो में उच्चावच भाव के ध्यान से श्रेणी-विभाजन तो नही किया जा सकता, फिर भी कुछ आचार्यों ने समय-समय पर रस विशेष को प्राधान्य दिया है। कभी करुण'[2] को प्रधानता मिली है, कभी 'वीर' को। पर सर्वसम्मत से शृगार को ही रसराज पदवी से विभूषित किया गया है। किसी रस की श्रेष्ठता उसकी विस्तार सीमा से आँकी जा सकती है। रति को लेकर जो रस उत्पन्न होता है उसकी विस्तार सीमा सबसे बडी दिखाई देती है। उसके दो पक्ष हो जाते हैं—सयोग और वियोग। यही कारण है कि प्राय समस्त सचारी भावो का समावेश शृगार रस में हो जाता है। आलस्य, उग्रता, घृणा—आदि सयोग शृगार में नही आते किन्तु वियोग में ये भी गृहीत हो जाते हैं। नव रसो में से अन्य किसी भी रस के दो पक्ष नही हैं। यही कारण है कि सुखात्मक और दु खात्मक दोनो प्रकार की परिस्थितियो, वृत्तियो आदि का समावेश उनमें असम्भव है। दूसरी बात यह है कि शृगार द्वारा साधारणीकरण अन्य रसो की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र में दिखाई देता है। अन्य रसो की अनुभूति में असमर्थ दिखाई देने वाले व्यक्तियो में भी थोडी ही सही शृगार की अनुभूति अवश्य होती है। अतः इस दृष्टि से भी शृगार का ग्राहक-क्षेत्र विस्तृत है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियो मे भी जिस भाव का प्राधान्य दिखाई देता है, वह रति (प्रेम) ही है। हास, घृणा ऐसे भाव अन्यत्र दिखाई नही देते। भय, शोक आदि जो भाव दिखाई भी देते हैं वे गौण रूप में ही। इसलिए शृगार का रसराजत्व ही साहित्य-क्षेत्र में अगीकृत है।

रस विरोध—रसो में परस्पर विरोध भी है, अर्थात् कई रसो का रस-विशेप से मेल नही बैठता। जैसे शृगार रस के साथ करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर

१—रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौभयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ता शमोऽपिच ॥—सा० दर्पण।

२—एको रस करुण एव निमित्त भेदात् ॥—भवभूति।

और भयानक नही आ सकते हैं। अत चतुर कवि इस प्रकार की शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह कर रस-समष्टि का चयन करते हैं।

भाव—इसके अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता[1] का भी साहित्य में विशेष महत्व है।

भाव के व्यापक अर्थ में तो सभी रस-सामग्री और रस भी आ जाते हैं किन्तु भाव का एक विशेष अर्थ में भी प्रयोग होता है। उसमे वह अपूर्ण रस के रूप में आता है। साहित्यदर्पणकार ने भाव की यो व्याख्या की है—जहाँ निर्वेद, मोह, वितर्क आदि सचारी भावो का वर्णन स्थायीभाव के पोषक रूप से न होकर स्वतन्त्र रूप से हो, देव, पुत्र, मित्रादि में रति स्थायी भाव हो, अनुभाव आदि सामग्री से पुष्ट न हो वहाँ इनकी भाव सज्ञा होती है।[2] इसी प्रकार अनुचित रीति से प्रयुक्त रस को 'रसाभास' एव अनुचित भाव को 'भावाभास' कहते हैं। जैसे, यदि उपनायक-विषयक-मुनिपत्नी विषयक, तिर्य्यंक्योनि विषयक रति रसाभास कहलायेगी। ऐसे ही विजयी राजा के प्रति विजित की चाटुकारिता 'भावाभास' कहलायेगी। किसी भाव के शान्त हो जाने को 'भाव शान्ति' या 'भाव प्रशम' कहते हैं। किसी भाव का चमत्कार पूर्ण उदय 'भावोदय' कहलाता है। दो भावो का एक साथ मिल जाना 'भावसधि' है। इसी प्रकार अनेक भावो का एकत्र होना 'भावशवलता' है।

करुणादि रसो मे आनन्द कैसे ?

कवि या नट अपनी सुन्दर रचना या अभिनय के द्वारा हमारे हृदय की प्रच्छन्न भावनाओ को अभिव्यक्त करता है। तभी हमें आनन्दानुभव होता है। उत्तररामचरित-नाटक में सीता को शोकाकुल देखकर या सोचकर हमारे हृदय की करुणा जाग्रत हो उठती है पर वह वास्तविक शोक नही। भावना की सच्ची अनुभूति अनुकार्य को होती है और रसास्वादन सामाजिक करता है। ऐसे ही 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में हरिश्चन्द्र भी श्मशान घाट की कारुणिक दशा, शैव्या का विलाप सुनकर बार-बार रो पडते हैं, रूमाल भीग जाता है। पर सामाजिक नाटक देखने से कब विरत होते हैं ? इससे सिद्ध होता है कि इन करुणप्रधान नाटको तथा काव्यो द्वारा करुणरस का

१—रसभावो तदाभासो भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धि शवलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसा॰॥ —सा॰ दर्पण।

२—सचारिणः प्रधानानि देवादि विषया रति।
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ —सा॰ दर्पण।

उद्रेक होने पर भी हृदय मे एक ऐसी उदात्त भावना जागृत होती है, जो मनुष्य को कुछ ऊँचे उठा देती है और उससे उत्पन्न रस अलौकिक सुख देता है। इसमें सहृदय लोगो का अनुभव ही प्रमाण माना जा सकता[1] है।

गुण—शौर्यादि की भाँति रस के उत्कर्ष हेतु रूप स्थायी धर्मो को गुण कहा गया है।[2] अलकार भी उत्कर्ष के हेतु हैं किन्तु अस्थायी हैं। दोषो के अभाव मात्र को गुण नही कहा जाता। उनका भावात्मक पक्ष भी है। इसीलिए दोष और गुणो का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार दोषो का न होना मात्र सौन्दर्य नही उसी प्रकार दोषाभाव मात्रगुण नही। मम्मट्यचार्य ने काव्य की परिभाषा में पहले अदोषो और फिर सगुणों कहा है। वाग्भट्ट ने तो स्पष्ट कह दिया है कि दोष न रहते हुए गुणो के बिना शब्द और अर्थ शोभादायक नही हो सकते।

यद्यपि भरत, वामनादि आचार्यो ने शब्द और अर्थ के दश-दश गुण माने हैं और भोज ने तो उनकी सख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। किन्तु मम्मट, विश्वनाथ आदि प्रसिद्ध आचार्यो ने मुख्य रूप से तीन गुण माने हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इनका सबन्ध चित्त की तीन वृत्तियो से है। माधुर्य माना है।

माधुर्य्य—जो अन्त करण को द्रवितकर (पिघलाकर) उसे प्रसन्न कर दे उसे 'माधुर्य्य' कहते हैं।[3] टवर्ग को छोडकर शेष (क से म तक) सभी स्पर्श वर्ण, ह्रस्व 'र' और 'ण' पचमाक्षरो से युक्त सयुक्ताक्षर, समासर हित या छोटे-छोटे समासो से युक्त—इस प्रकार कोमल और मधुर पदो से युक्त रचना माधुर्यगुण वाली मानी जाती है। सयोग शृगार, वियोग शृगार, करुण और शान्त रसो में 'माधुर्य्य गुण' क्रमश उत्कर्ष वर्द्धक होता है।

ओज—चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण का नाम 'ओज' है।[4] सयुक्ताक्षर, रेफ सयुक्त अक्षर, द्वित्व, टवर्ग, श, ष और दीर्घ समास उद्धत घटना से युक्त

---

१ करुणादावपि रसे जायते यत् परसुखम्।
सचेतसामनुभव प्रमाणतत्र केवलम्।—सा० दर्पण

२. रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणा माधुर्य्यमोजोऽथ प्रसाद इतिते त्रिधा॥—सा० दर्पण

३ चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते।—सा० दर्पण

४. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते।—सा० दर्पण

रचना ओज-व्यंजक होती है। वीर, वीभत्स और रौद्र रसो में क्रम से इसका उत्कर्ष होता है।

प्रसाद—'माधुर्य' और 'ओज' का तो तीन-तीन ही रसो से सबन्ध माना गया है पर 'प्रसाद' का सभी रसो से माना जाता है। सूखे ईंधन में अग्नि के प्रकाश अथवा स्वच्छ कपडे में जल की झलक की भाँति 'प्रसाद' गुण द्वारा चित्त में एक साथ अर्थ का प्रकाश हो जाता है और वह चित्त को व्याप्त कर लेता है। 'प्रसाद' का सम्बन्ध सभी रसो से[1] है। इससे सिद्ध होता है कि अर्थ की स्पष्टता को शैली में कितना महत्व दिया गया है।

प्रसादगुण, माधुर्य और ओज दोनो के साथ रह सकता है। विरोध माधुर्य और ओज का है। एक का सम्बन्ध चित्त की कोमल वृत्तियो से और दूसरे का सम्बन्ध कठोर वृत्तियो से है।

रीति—गुणो के अनुकूल पद-रचना को 'रीति'[2] कहते हैं। जिस प्रकार शरीर में अवयवो की सुन्दर सघटना सौन्दर्य के लिए आवश्यक है उसी प्रकार काव्य में अनुकूल पदो का सघटन रस का उत्कर्ष करता है। रस काव्य की आत्मा है और गुण रस के स्थायी धर्म हैं। उन्ही गुणो के अनुरूप शब्दो की योजना को 'रीति' कहते हैं। रीतियाँ चार हैं—वैदर्भी, गौडी और पाचाली तथा लाटी या लाटिका।

वैदर्भी—इसमें माधुर्य व्यजक वर्णों के द्वारा ललित रचना होती है। इसमें समास नही होते हैं या बहुत कम होते हैं। विदर्भ (आधुनिक बरार) देश के लोग इसी रीति में रचना करते थे। अत इसका नाम वैदर्भी पडा।

गौड़ी—इसमें ओज गुण के अनुरूप शब्द-विकास होता है। शब्दाडम्बर

---

१. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत्सहसैव यः
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति'।—काव्य प्रकाश

× × ×

चित्तव्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।—सा० दर्पण

२. विशिष्टा पद-रचना रीति।

—वामन

पदसघटना रीतिरङ्गसस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्॥

—सा० दर्पण

अधिक होता है। समास की वहुलता होती है। गौड देश के लोग इस 'रीति' को प्रमुखता देते थे।

पांचाली—इस शैली में मधुर और सुकुमार पदो का व्यवहार होता है। इसमें ५-६ पदो के समास हो सकते हैं।

लाटी—वैदर्भी और पाचाली दोनो रीतियो से सम्मिश्रित रीति को लाटी या लाटिका कहते हैं। यह लाट (गुजरात) देश के लोगो को अधिक प्रिय रही है।

मम्मटाचार्य ने इनको क्रमश उपनागरिका, परुषा और कोमल वृत्ति के नाम से प्रयोग किया है।

वृत्ति—रीति और वृत्ति के स्वरूप में आचार्यों में मत-भेद है। कुछ लोग इनको रीति के भीतर ले लेते हैं। कुछ लोगो ने इसे अलग माना है।

वृत्ति और रीति में साधारणतया तो भेद नही किया जाता किन्तु इनमें थोडा भेद अवश्य है। वृत्तियो का विभाजन रचना के गुण पर है और रीतियो का वर्गीकरण देश या प्रान्त के आधार पर है। रीतियो का सम्वन्ध यद्यपि गुणो से है तथापि उनमें रचना के वाह्यरूप पर अधिक वल दिया गया है। वृत्तियो में मानसिक पक्ष की ओर भी सकेत रहता है। इस भेद पर सम्यक् रूप से अधिक विवेचन किया गया है। इन वृत्तियो का विशेष सम्वन्ध नाटको से है। ये नायक आदि के व्यापार विशेष मानी गई हैं। वृत्तियाँ चार हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। इनका रसो से विशेष सम्वन्ध है।

१ कैशिकी—इसमें शृगार और हास्य की प्रधानता होती है।

२ सात्वती—इसमे वीर, रौद्र और अद्भुत की प्रधानता होती है।

३ आरभटी—इसमे भयानक, वीभत्स और रौद्र की प्रधानता।

४ भारती—करुण और अद्भुत की प्रधानता।

दोष—आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण मे 'अदोषौ'[1] कहा है। अत शब्द और अर्थ दोनो दोष-रहित होने चाहिए। साथ ही 'अदोषौ' को लक्षण में प्रथम स्थान दिया है। इससे सिद्धि होता है कि दोष का अभाव उन्हे सर्वाधिक

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृति पुन क्वापि।

—काव्य प्रकाश

अपेक्षित है। काव्य की आत्मा 'रस' है। रसानुभूति मे जो भी, जिस अश मे भी बाधा पडेगी वह 'दोष'[1] माना जायेगा। रस के साथ वाच्यार्थ भी मुख्य होता है और रस तथा वाच्यार्थ इन दोनो के उपयोग मे आने वाले शब्द और अर्थ हैं। अत शब्द, अर्थ, वर्ण तथा पूरी रचना—इनमें कही भी रसाभिघात होगा तो वह 'दोप' माना जायेगा। यह रसाभिघात तीन प्रकार से होता है—

१ कुछ ऐसे दोष आ जाते हैं जिनसे रसानुभूति ही नही होती।

२ कभी-कभी दोष विशेष के कारण रसास्वादन में न्यूनता आ जाती है।

३, कभी-कभी रसानुभूति होती तो है, पर बहुत विलम्ब से।

ये दोष पद, पदाश, वाक्य, अर्थ और रस इन पाँच स्थलो पर पाये जाते हैं।[2]

मम्मटाचार्य ने काव्य-गत दोष सोलह प्रकार के गिनाये है और विश्वनाथ ने तेरह। विस्तार-भय से सारे दोषो का क्रमिक वर्णन न करके कुछ विशेष दोषो का ही निचोड दिया जा रहा है।

१ रचना का सरल और सुबोध होना अभीष्ट है। और उसमे ऐसे शब्दो का प्रयोग न होना चाहिए जो परिभाषिक होने के कारण उस विषय के कुछ विशेष ज्ञाता ही समझ सकें। अप्रचलित शब्दो का प्रयोग भी रसानुभूति में बाधक होता है। ऐसे शब्दो का प्रयोग होना चाहिए जो अर्थ-प्रतीति कराने में समर्थ हो।

२ रचना का गौरव अश्लील या ग्रामीण शब्दो द्वारा बिगाडना अवांछनीय है।

३ रचना चुस्त होनी चाहिए। उसमें न अधिक भरती के पद हो और न न्यून पद हो—जिससे अर्थ-भावन ही न हो सके।

४ रस के अनुकूल शब्दावली का प्रयोग होना चाहिए। शब्दो को साधारणतया भावानुकूल होना चाहिए। यथा, शृगार रस में मधुर, कोमल शब्दो का

---

१ रसापकर्षका दोषा.।

—सा० दर्पण

मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्चमुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य ।
उभयोपयोगिन. स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स· ॥

—काव्य प्रकाश

२. ते पुन पञ्चधामता: पदे पदाशे वाक्येऽर्थे सभवन्ति रसेऽपि यत्।

—सा० दर्पण

प्रयोग उचित है। इसमे श्रुति-कटु शब्द भी गुण हो जाते हैं।

५ रचना को व्याकरण सम्मत होना चाहिए। किन्तु केवल व्याकरण की शुद्धता को ही रचना का सौष्ठव न समझ लेना चाहिए।

६ वाक्य का अन्वय ठीक होना चाहिए। दूरान्वय के कारण अर्थबोध में बडी बाधा पडती है। वाक्य के समाप्त हो जाने पर उसके सम्बन्ध की बात फिर न कही जाए या बीच में दूसरी बात न आजाए।

७ वाक्य में सगति और क्रम होना चाहिए—किसी वस्तु की महत्ता दिखाकर उसकी हीनता न दिखाई जाए।

८ रस या भाव का नाम से उल्लेख करना अनुचित है। छन्दो की लय या गति का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए।

कवि को चाहिए कि इन दोषो से अपनी कविता को बचाये। रस-प्रतीति में बाधक कारणो से कविता को मुक्त रखें तो काव्य सरल हो सकेगा।

चौथा अध्याय

काव्य में जीवन की व्याख्या

काव्य से तात्पर्य क्या है ? इस सम्बन्ध मे हम पूर्व अध्यायो में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। काव्य की अनेक प्रकार से परिभाषा की जाती है। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं। "रसात्मक वाक्य काव्य" अर्थात् रस से भरे वाक्य को काव्य कहते हैं। मम्मट का मत है कि जो रचना दोष-रहित और गुणवाली हो तथा जिसमें कही-कही अलकार न भी हो वह काव्य कहलाती है।

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुनः क्वापि"

—काव्यप्रकाश

पडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य माना है।

आधुनिक काल के आचार्यों ने काव्य की परिभाषा अपने-अपने ढग से की है। आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।

प्रेमचन्द जी उपर्युक्त किसी भी परिभाषा से सन्तुष्ट नही थे। उनका कहना था कि "साहित्य की बहुत सी परिभाषाएं की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए। बाबू गुलाबराय का मत है कि "काव्य ससार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओ की श्रेय को प्रेयरूप देने वाली अभिव्यक्ति है।"

पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य की विविध परिभाषाएँ की हैं। अरिस्टोटल का मत है कि काव्य प्रकृति की अनुकृति कला है जिसका उद्देश्य शिक्षा और आनन्द प्रदान करना है—Poetry is an art of imitation with this end to teach and delight.

—अरिस्टोटल

कवि के लिए ग्रीक शब्द पाइनस(Poiens) है जिसका अर्थ है सृष्टि करना। सृष्टि करने वाला कवि कहलाता है। हमारे यहाँ भीकविर्मनीषी परिभू स्वयम्' कहलाता है। कवि स्रष्टा है। उसकी अपनी सृष्टि होती है जो विधाता की सृष्टि के समानान्तर उसके तपोवल से बनती है।

अँग्रेजी साहित्य के एक प्रसिद्ध समालोचक ड्राइडन का कथन है कि काव्य का उद्देश्य आनन्दप्रद रीति से शिक्षा देना है। दर्शन भी शिक्षाप्रद होता है किन्तु यह तर्क के बल पर कार्य करता है जो सब को प्रिय नही होता।[1]

जानसन का मत है कि काव्य वह कला है जो श्रेय और प्रेय का गठबन्धन कराती है। इस गठबन्धन का साधन है कल्पना और विवेक[2]।

आगे चलकर जानसन कहते हैं कि सभी प्रकार की रचना का उद्देश्य है शिक्षा देना। किन्तु काव्य का उद्देश्य है सरस रीति से श्रेय की प्राप्ति कराना।

काव्य और दर्शन

कालरिज का मत है कि कवि बनने में दर्शनशास्त्र अत्यन्त सहायक होता है। उनका कथन है कि कोई व्यक्ति तब तक शक्ति सम्पन्न कवि नही बन सकता, जब तक वह गहन दार्शनिक नही होता। काव्य है क्या ? वह तो मानव ज्ञान तरु का परिमल है। मानव के विचारो, मनोवेगो, भावनाओ का सारभूत अश है।[3]

पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनो मतो से काव्य का अर्थ प्राचीन काल में पद्य और गद्य दोनो समझा जाता था। Poetry शब्द की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए हम पूर्व बता आए हैं कि Poiens का अर्थ है बनाना अथवा कल्पना को सत्य कर दिखना। वह रचना चाहे पद्य मे हो अथवा गद्य में।

---

1 To instruct delightfully is the general end of all Poetry, Philosophy instructs, but it performs its work by precept, which is not delightful

2 Poetry is the art of uniting pleasure with truth,by calling imagination to the help of reason

—S Johnson

3 No man was ever yet agreat poet, without being at the same time a profound philosopher For Poetry is the blossom and the fragrance of all human knowledge, human thoughts, human passions, emotions, language

—S T Coleridge

हमारे आचार्य तो नाटक को दृश्य काव्य कहते ही हैं। यद्यपि दोनो मतो के अनुसार कविता,नाटक,उपन्यास आदि रचनाएँ काव्य कहलाती हैं किन्तु नाटक और उपन्यास अब स्वतत्र रूप से अपनी सत्ता के अधिकारी बन गए हैं और आज काव्य का अर्थ प्राय पद्यबद्ध रचना माना जाता है। नाटक, उपन्यास तथा अन्य कथा साहित्य का विवेचन पृथक्-पृथक् अध्यायो मे किया जायगा। यहा केवल कविता पर ही प्रकाश डालना है।

काव्य तथा अन्य कलाएँ

पाश्चात्य आलोचक एडिसन का मत है कि यद्यपि काव्य तथा अन्य सभी ललित कलाएँ हमारी कल्पना शक्ति पर प्रभाव डालती हैं तथापि काव्यकला की यह विशेषता है कि अन्य कलाओ की अपेक्षा इसका प्रभाव अधिक गहरा पडता है। कविता न केवल कवि के मस्तिष्क मे कल्पना जगत को ही खडा करती है अपितु श्रोता का मस्तिष्क भी कवि मस्तिष्क के साथ सयुक्त कर देती है।

नाट्यकार और कवि मे आजकल अन्तर माना जाता है। नाट्यकार की सफलता पात्रो और घटनाओ के चयन, पात्रो द्वारा होने वाली कार्यावली के पूर्वापर प्रसगो के औचित्य की कसौटी पर कसी जाती है। इस सम्बन्ध में वह नाट्यकला के उन सिद्धान्तो से बँधकर चलता है जो कथानक और अभिनय के विपय में निर्द्धारित किए जा चुके हैं। किन्तु कवि इन बन्धनो से मुक्त है। उसके लिए न सभी प्रकार के चरित्र आवश्यक हैं न हर प्रकार की घटना।

जीवन व्याख्या की पद्धति

कवि प्रकृति के विशाल प्रागण और समाज की विविध घटनाओ में से उन्ही को काव्य का आधार बनाता है जिन पर वह अपनी उदात्त कल्पना की भित्ति बनाकर मानव-जीवन का दिव्य प्रासाद निर्मित कर सकता है। उसके दृश्य सप्रमाण और सक्रिय चरित्र विशिष्ट और उसकी घटनाए सम्भावित होती हैं। ये ही काव्य प्रासाद के उपकरण हैं। इन्ही उपकरणो के बल पर कवि की लेखनी से जीवन का सौन्दर्य निखरता है। विशिष्ट घटनाओ के बल पर कवि मानव-जीवन के सत्य की विशद व्याख्या करता है जीवन व्याख्याता के नाते वह हमसे परिचित व्यक्तियो के ऐकान्तिक कार्यों की व्याख्या करता है। व्याख्या के समय वह मानव-जीवन के सामान्य सिद्धान्तो के साथ व्यक्तिगत कार्यों की तुलना करता है।

व्यक्तिगत दैनिक जीवन की व्याख्या करते समय वह उस वर्ग या समाज का आदर्श सम्मुख रखता है जिससे व्यक्ति बँधा है। समाजगत आदर्शों को स्पष्ट

करने के लिए वह उन विशेषताओ का अनुसधान करता है जिनसे एक समाज दूसरे से पृथक् माना जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की जीवन घटनाओ के आधार पर वह विशिष्ट समाज का वर्णन करता है, और विशिष्ट समाज के वर्णन के माध्यम से वह मानव-जीवन की व्याख्या करता है। जीवन-व्याख्या के नाते वह मानवता के केन्द्र में स्थित प्रमुख मनोवेगो को अभिव्यक्त करता है। मनोवेगो की अभिव्यक्ति मे वह ऐसी तुलनात्मक दृष्टि रखता है जिससे प्रेम और घृणा, सत्य और मिथ्या, विलास और सयम, क्षमा और क्रोध, आदि का वास्तविक रूप निखर आये। इसके लिए वह विविध मनोवेगो के अविरोधी एव विरोधी गुणो का प्रभावशाली प्रदर्शन करता है। हमारी सत्प्रवृत्तियो और असत् प्रवृत्तियो का सघर्ष दिखलाता है। मानव-जीवन की व्याख्या तव तक अपूर्ण है जबतक चतुर्दिक व्याप्त परिस्थितियो और सामाजिक विशेषताओ के अतिरिक्त कवि व्यक्ति के उन अन्तर्निहित गुणो को अभिव्यक्त नही करता जो उसे जन्मजात प्राप्त हैं। व्यक्ति के बाह्य प्रभावो से प्रभावित होता हुआ भी आभ्यान्तरिक गुणो से सचालित होता है। इन्ही गुणो के बलपर वह समाज में रहता हुआ भी समाज से पृथक् अपनी व्यक्तिगत सत्ता रखता है। कवि का कार्य है उसी निगूढ सत्ता को मूर्तिमती वनाना। असाधारण शक्ति की वह निगूढ सत्ता उसके क्रिया-कलापो में फूट पडती है। कवि का कार्य है उन्ही कार्य-कलापो की समुचित योजना करके उनमें तारतम्य स्थापित करना। ऐसे अति मानव या महामानव के क्रियाकलाप भौतिकवाद, बुद्धिवाद आदि से परे अध्यात्मवाद में निमीलित हो जाते हैं। कवि मानव-जीवन की व्याख्या करते समय जीवन-तथ्यो के साथ इसी आध्यात्मवाद का सामजस्य करता चलता है।

> **"विषमता की पीड़ा से व्यस्त, हो रहा स्पन्दित विश्व महान्;**
> **यही दु ख-सुख विकास का सत्य, यही भूमा का मधुमय दान।"**

मानव-जीवन की सबसे वडी समस्या दु खानुभूति है।

मानव-जीवन मे नियति का स्थान

जीवन की व्याख्या करते समय कवि इस विपम समस्या की उपेक्षा किस प्रकार कर सकता है ? समाज के इस रोग का निदान और उपचार मानव-जीवन की व्याख्या में प्रमुख स्थान पाता है। अत कवि प्राय घटनाओ और चरित्रो के आधार पर इसका विश्लेपण करता है। घटनाओ और चरित्रो में आपदाओ का आगमन दो प्रकार से होता है—प्रकृति के प्रकोप के कारण अथवा अदृष्ट या नियति के भौंहो में वल पडने से। कभी दोनो वाधाएँ पृथक्-पृथक् रूप मे

दिखाई पडती हैं कभी दोनो मिलकर एक बन जाती हैं। जीवन-व्याख्याता कवि इन दोनो प्रकार की बाधाओ का निरूपण करता है, उनके कारणो का अनुसधान करता है, उनके दुष्परिणामो का विवेचन करता है उनसे मुक्ति का साधन ढूंढ निकालता है। कवि की प्रतिभा आपत्ति के गुप्त कारणो को अन्धकार से प्रकाश में लाती है। उनके निवारण करने के साधनो का निर्देश करती है। इस प्रकार जीवन व्याख्या करने में काव्य और कवि को सफलता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए कामायनी का श्रद्धा-सर्ग लीजिये। मनु सविपाद कहते है—

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय ?
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कपित गेह"

इतने ही में श्रद्धा आती है। उन्हे आश्वासन दे कर कर्म द्वारा आपदा को मिटाने का सन्देश देती हुई कहती है—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
"अरे तुम इतने हुए अधीर !
हार बैठे जीवन का दाव,
जीतते मर कर जिसको वीर"

जीवन की व्याख्या करते समय प्राचीनता और नवीनता का सम्बन्ध वताती हुई श्रद्धा कहती है—

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्त्तन में टेक।

जीवन में दुःख-सुख आते-जाते रहतेहैं, किन्तु कालचक्र अपनी मस्तानी गति से चलता जाता है। वह न किसी के रोके रुकता है और न किसी के हाथ का क्रीडा-कन्दुक बनता है। सृष्टि अपने क्रम को सदा चलाती जाती है—

युगों की चट्टानो पर सृष्टि,
डाल पद चिह्न चली गम्भीर,
देव, गन्धर्व, असुर की पक्ति,
अनुसरण करती उसे अधीर।

सृष्टि के इस गूढ रहस्य को समझाने के लिए भौतिकवाद से परे आध्यात्म-वाद का सहारा कवि को लेना पडता है। इस प्रकार जीवन की व्याख्या का

पूर्णतया विवेचन करने के लिए हिन्दी के सूफी एव वैष्णव भक्त कवियो ने कथानको का सहारा लेकर उस सत्ता का आभास कराया जिसे उपनिषदो ने कहा कि वह तो वाणी, मन और इन्द्रियो से परे है। जहाँ से मन के साथ वाणी लौट आती है।[1]

कबीर, सूर और तुलसी ने उस अनिर्वचनीय सत्ता को काव्य मे बाँध डाला। भक्तो को उसका दर्शन कराया। और इस प्रकार मानव-जीवन के रहस्यो का उद्घाटन करने में सफलता प्राप्त की।

काव्य मे प्रेम की व्याख्या

मानव जीवन में एक और महत्त्वमय प्रश्न है योनि सम्बन्धी आकर्षण का। जीवन के वसन्तकाल में यह आकर्षण अत्यन्त शक्तिशाली बन जाता है। इसी के बल पर अनेक प्रेमी-प्रेमिका काव्य, नाटक, उपन्यास और कथा साहित्य के पात्र बन जाते हैं। जीवन को सरस बनाने के लिए कवियो और नाट्यकारो ने इस प्रेमतत्व की विशद व्याख्या की है। यदि यह आकर्षण विधाता की सृष्टि का मूलाधार है तो कवि की सृजन शक्ति का भी यह प्रधान उपकरण बनता है। यह कहना असगत न होगा कि इस तत्व के विश्लेषण के अभाव में मानव-जीवन की व्याख्या अधूरी ही रह जाती है। काव्य ही को यह अधिकार है कि वह प्रेम रस के निगूढ तत्व की व्याख्या निर्भीकता के साथ करे। यह काव्य कला ही मूल शक्ति 'प्रेमकला' की लीला दिखाकर उसका दिव्य सन्देश सुना सकती है—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेमकला,
उसका सन्देश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला।

इस प्रेम कला का दिव्यतम रूप रखने के लिए वाल्मीकि रामायण से कामायनी तक, शकुन्तला से स्कन्दगुप्त तक अनेक काव्यो की रचना हुई किन्तु अभी तक इस महासागर मे न जाने कितने रत्न छिपे पडे हैं, जिनके अन्वेषण का श्रेय भविष्य के कविगण को मिलेगा।

प्रेम की इस दिव्य शक्ति का यदि दुरुपयोग किया जाय तो ससार में न जाने कितना सघर्ष खडा हो जाए। इसकी विकृति ने ससार में अनेक युद्धो को जन्म दिया। इसी ने देवता और मानव को दानव रूप में परिवर्तित कर दिया।

सौन्दर्य-वर्णन

प्रेम कला की मूल शक्ति की व्याख्या करने में सौन्दर्य की अत्यन्त आव-

---

१—यत· वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

श्यकता पडती है। सफल कवि बाह्य सौन्दर्य के वर्णन तक ही अपनी दृष्टि सीमित नही रखता, वह सृष्टि के अन्तरतम में पैठकर सौन्दर्य का दिव्य रूप निकाल लाता है। कवि प्रसाद कहते हैं—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

प्रेम कला के वर्णन में आकर्षिका शक्ति नारी के जीवन की व्याख्या विविध प्रकार से की गई है। काव्य मे इसका दिव्यतम रूप भी मिलता है और निकृष्ट-तम रूप भी। इममे वासना की मूर्त्ति ताडका है तो पातिव्रत धर्मरूपिणी सीता है। 'अजातशत्रु नाटक' में एक ओर चचला नारी श्यामा है तो दूसरी ओर देवी-स्वरूपा मल्लिका भी। जिस काव्य मे नारी-जीवन की व्याख्या जितनी ही सत्य और स्वाभाविक मिलती है वह काव्य उतना ही उत्कृष्ट माना जाता है। जीवन-सघर्षों मे परिपालित और आपदाओ की अग्नि मे तापित नारी-जीवन की कहानी मैथिलीशरण जी के शब्दो मे—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आचल में है दूध और आँखो में पानी।

अथवा 'प्रसाद' के शब्दो में—

यह आज समझ तो पाई हूँ,
मै दुर्बलता में नारी हूँ।
अवयव की सुन्दर कोमलता,
लेकर मैं सब से हारी हूँ।

इसी अग्नि मे तापित नारी कालिदास के हाथो शकुन्तला बनती है और ऐसे पुत्ररत्न को जन्म देती है जिसके नाम पर—कुछ विद्वानो के मत से—आर्यावर्त्त देश भारत कहलाता है। इस प्रकार नारी जीवन धन्य बनता है। क्षणिक दुर्बलता का अभिशाप सहने तथा तपस्या की आँच मे तपने का परि-णाम होता है जीवन की पूर्णता।

काव्य मे प्रकृति की व्याख्या

अपने जीवन में मानव सबसे अधिक सम्पर्क प्रकृति से स्थापित करता है। कभी शिशिर के निर्मल आकाश मे चन्द्र का प्रकाश और कभी मेघाच्छन्न गगन-मडल में विद्युत् की चमक। नाना विचित्रताओ से भरी रहस्यमयी प्रकृति का हमारे जीवन पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है। कवि प्रकृति-प्रागण में होने वाली सुख-दुख-दायिनी लीलाओं की आँख-मिचौनी देख-देखकर सिहर उठता

है। वैदिक ऋषि सविता, ऊषा आदि के दर्शन से विस्मयविभोर हो काव्य की वाणी में वोलने लगता है। वह शुद्ध दार्शनिक से कवि दार्शनिक बन जाता है। व्यास और वाल्मीकि, सूर और तुलसी, प्रसाद और पन्त इसके वर्णन में कवि से दार्शनिक बन जाते हैं। प्रकृति के रहस्यो का उद्घाटन मानव-जीवन की व्याख्या में कितना सहायक बनता आ रहा है, यह साहित्य के विद्यार्थियो से छिपा नही।

किन्तु प्रकृति-वर्णन में काल-क्रमानुसार परिवर्त्तन होता रहा है। जीवन-व्याख्या में किसी दिन प्रकृति उदाहरण के रूप में आती थी। जैसे, तुलसी वर्षा और शरद में प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन में कहते हैं—

दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥
वर्षहि जलद मेघ नियराए। यथा नवहि बुध विद्या पाए॥

पर आज कवि सविता-सोम, मरुत-वरुण, ग्रह-नक्षत्र, जलद-दामिनि को देखकर प्रश्न पूछता है—

विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान?
किसका था भ्रू-भंग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विकल रहे,
अरे! प्रकृति के शक्ति चिन्ह ये
फिर भी कितने निवल रहे!
महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह-नक्षत्र और विद्युतकण
किसका करते हैं संधान!

× × ×

तृण वीरुध-लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए?

आगे चलकर कवि का हृदय नव प्रभात का उत्साह देखकर जीवन की पुकार मचाता हुआ कहता है।

जीवन! जीवन! की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह,

किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह !

प्रकृति के विविध रूपो को देखकर कवि को जीवन-अनुभूति प्राप्त होती है। वह कह उठता है—

शीतल झरनो की धारायें
बिखरातीं जीवन-अनुभूति !

+ + +

उस असीम नीले अचल में
देख किसी की मृदु मुसकान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल-गान,

कहा जाता है कि कवि की चैतन्य शक्ति से जड चेतन और चेतन ज्ञानी बन जाता है। पारस पत्थर के समान कवि का व्यक्तित्व पृथ्वी और आकाश में उपलब्ध समस्त लता, वृक्ष, नदी, तरग, सूर्य, तारा आदि पदार्थों को लोहा से सोना बना देता है। वे पदार्थ सजीव और चेतन बनकर मुखरित हो उठते हैं। कवि उनसे अपनी प्रगाढ मैत्री स्थापित करता है, अत वे उसे अपने हृदय की प्रतिध्वनि सुनाते हैं। जो कवि सम्पूर्ण सृष्टि के साथ जितनी ही अधिक आत्मीयता की भावना स्थापित कर पाता है उसकी कविता उतनी ही अधिक आध्यात्मिकता के सौरभ से सुरभित हो उठती है। जिस काव्य में यह सौरभ जितना अधिक हृदय-ग्राही मात्रा में रहता है वह काव्य उतना ही अधिक स्थायी रहता है।

छायावादी कवियो ने भी प्रकृति के सहारे जीवन की व्याख्या की है। उन्होने भी प्रकृति के साथ पारिवारिक सम्बन्ध जोडा है। उन्हे भी अरुणिमा और सन्ध्या में, पशु-पक्षी और खग-मृग मे, लता-द्रुम और छाया-प्रकाश में मानव जीवन का काव्य लिखा मिलता है। उन्हे कोकिला के स्वर में जीवन-सगीत और कुसुम-सौन्दर्य मे जीवन-सौन्दर्य झूमता हुआ दिखाई पडता है। कविवर पन्त प्रकृति के साथ सान्निध्य स्थापित करने वाले श्रमजीवी के जीवन पर इस प्रकार प्रकाश डालते हैं—

बाँसो का झुरमुट, सन्ध्या का झुटपुट
है चहक रही चिड़ियाँ, टी, वी, टी, टुट् टुट्
वे ढाल-ढाल कर उर अपने, है बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर, गा गीत स्नेह-वेदना सने
ये नाप रहे निज घर का मग, कुछ श्रमजीवी डगमग-डग

भारी है जीवन भारी पग !!
आ, गा-गा शत-शत सहृदय खग, सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण-सुभग
औ गन्ध-पवन झल मन्द व्यजन, भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली है जिनकी रग-रग !

(युगान्त)

जीवन के साथ प्राकृतिक पदार्थों का तादात्म्य होने से हृदय में जिस सुख की अनुभूति होती है उसकी प्रशसा करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि "प्रकृति कुछ काल के लिए सभ्यता के कृत्रिम वन्धनो से मुक्तकर, हृदय को शुद्ध भूमि पर ले जाती है और व्यावहारिक जीवन के स्वार्थ-सम्वन्धो के सकुचित मडल से हटाकर शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है।" जो व्यक्ति प्रकृति के साथ यह रागात्मक सम्बन्ध जितना अधिक प्रगाढ वना सकता है वह उतना ही अधिक दुखमुक्त होकर सुख का अनुभव करता है।

हमारे जीवन में दुख के अनेक कारणो में एक कारण यह भी है कि हम अपने स्वाभाविक जीवन से दूर हटते गए हैं। ज्यो ही अपने स्वाभाविक जीवन से हमारा सम्बन्ध स्थापित होने लगता है हमारे दुख की शृंखलाएँ टूटने लगती हैं और हम सुख के साम्राज्य मे पहुँच जाते हैं। शुक्ल जी लिखते हैं—"हम पेड पौदे और पशु-पक्षियो से सम्बन्ध तोडकर नगरो में आ बसे, पर उनके बिना रहा नही जाता। हम उन्हे हर वक्त पास में रखकर एक घेरे में बन्द करते हैं, और कभी मन वह-लाव को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोडते नही वनता। कबूतर हमारे घर के छज्जो मे सुख से सोते हैं। गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार फोडकर निकल पडते हैं।" आगे चलकर वे फिर लिखते हैं—

"वरसात के दिनो में जब सुर्खी-चूने की कडाई की पर्वा न कर के हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकल पडती है, तव मुझे उनके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढती हुई आती है और कहती है कि तुम मुझसे क्यो दूर-दूर भागे फिरते हो ?"

प्रकृति का प्रभाव हमारे जीवन पर अवश्य ही पडता है, इसमें किसको सन्देह हो सकता है ? कवि तो प्रकृति का पुजारी होता है। उसकी अर्चना और वन्दना करते हुए वह तन्मय हो जाता है। कवि ससारी हो अथवा वीतराग, वह तो प्रकृति की विभूति पर मुग्ध हुए विना नही रह सकता। उस मुग्धता और तन्मयता की स्थिति में कवि को जो रस मिलता है उसे कई आलोचक प्रकृति-

रस नाम से पुकारते हैं। कई आलोचक प्रकृति मे जडता का आरोप करके इसे रस न मानकर भाव ही मानते हैं किन्तु आज के आलोचको का मत इससे भिन्न है। उनका मत है कि "प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनो में प्रकृति के आलम्बनत्व से उत्पन्न मनः स्थिति रसमय ही होती है। यह इसकी बहुत बडी विशेषता है।"

अंग्रेज कवियो मे वर्ड्सवर्थ ने भी मानव और प्रकृति मे आत्मिक साम्य स्वीकार करते हुए लिखा है—"प्रकृति ने अपने सुन्दर उपकरणो से उस मानवात्मा को जो सबमें व्याप्त है सम्बन्धित कर रखा है, किन्तु मानव ने स्वाभाविक मानव को प्रकृति से कितनी दूर फेंक दिया है, यह देखकर हमे दुख होता है।"[१]

सुमित्रानन्दन पन्त तो प्रकृति से सम्बन्ध जोडने के लिए प्रकृति को पुरुष का विराट शरीर मानते हैं—

"एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास
तरल जलनिधि में हरित-विलास
शान्त अम्बर में नील विकास।"

वास्तविक मानव जीवन को ढूंढते हुए कवि प्रकृति के सम्पर्क में पहुँचकर कहता है—

"जिस सरल, स्वाभविक एव अनिन्द्य आनन्द की अनुभूति शुद्धमानस वाले व्यक्ति किया करते हैं वही जीवन है। इस प्रकार का जीवन प्रकृति के प्रागण में उन्मुक्त विहार करने से ही उपलब्ध होता है। प्रकृति का वर्णन करने वाली जिस कविता में अनिन्द्य आनन्द प्रदान करने की शक्ति होती है वही जीवन को दुःख-मुक्त बनाती और सुख की प्राप्ति कराती है। प्रकृति-वर्णन द्वारा कवि पाठक को जीवन के उन सुखतम क्षणो तक पहुँचा देता है जहाँ विचार उदात्त बन जाते हैं।"[२]

1—To her fair works did Nature link
The human soul that through me ran ,
And much it grieved my heart to think
What man has made of man

Wordsworth

2—And I have felt
A Presence that disturbs me with the joy
of elevated thoughts . a sense sublime

काव्य मे सामाजिक जीवन की व्याख्या

काव्य कवि की मानसिक शक्तियो के विकास की ही व्याख्या तक सीमित नही होता वह इससे भी आगे वढता है। जिस प्रकार वह अपने चतुर्दिक् फैली प्रकृति में अपने मनोवेगो का स्पन्दन देखता है उसी प्रकार अपने चारो ओर घिरे समाज में वह अपने जीवन के दुख-सुख का इतिहास पढता है। कवि चिन्तन करते-करते ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उसका जीवन समाज के जीवन का अभिन्न अग बन जाता है। समाज में और उसमें अशी-अश भाव उत्पन्न हो जाता है। अपने को सुखी वनाने के लिए उत्सुक उसका मन समाज को सुखी बनाने में अपना सुख देखता है। समाज को सुखी वनाने के लिए वह आगत आपदाओ के परिहार और अनागत आपदाओ के अवरोध-निरोध का मार्ग ढूँढता है।

उन्नीसवी शताब्दी के विक्टोरिया-युगीन कवि, काव्य को समाज-सुधार के लिए अर्पण कर देने वालो में प्रमुख हैं। युग के राष्ट्र-कवि टेनीसन ने जीवन के प्रत्येक अग को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उन्हे दोषपूर्ण पाया। उन दोषो की छान-वीन करके उन्हे समाज के सम्मुख रखा। उन्होने पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, राजनैतिक जीवन की उलझी गुत्थियो को सुलझाने का प्रयत्न किया। टेनीसन सक्रमण-काल के कवि हैं। उनके समय में युग करवट बदल रहा था। चारो ओर उथल-पुथल थी। नारी-समाज मे बडी विशृखलता उत्पन्न हो गई थी। समाज का पारिवारिक जीवन दु खमय होने लगा था। उस समय टेनीसन पुरुष और स्त्री दोनो को समझाते हुए जीवन में शान्ति और अनुशासन की कामना करते हैं। पारिवारिक जीवन ही सामाजिक-जीवन की कसौटी है। अतः उनका निवेदन है कि 'पुरुष अपने शौर्य-बल से, नारी अपने हृद्बल से नित समाज का उन्नयन करते चले। नारी पुरुषो की सगिनी बनती हुई, उनके आदेशो का पालन करें, अन्यथा कल्याण नही'[1]।

---

of something for more deeply interfused
whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,
And the blue sky, and in the mind of man
A motion and a spirit, that impels
All thinking things, all objects of all thought,
And rolls through all things"

1 Man with the head and woman with the heart,
Man to command & woman to obey,
All else confusion —Tennyson

राजनैतिक जीवन में भी कम हलचल न थी। साम्राज्य-विस्तार की लालसा लिए हुए ब्रिटेन चतुर्दिक उपनिवेशो की स्थापना में व्यस्त था। इस कारण प्रशासन में व्यतिक्रम था, अशान्ति थी। इग्लैण्ड तथा उपनिवेश दोनो में शान्ति और न्याय के लिए टेनीसन जनता की आवाज़ का प्रतिनिधित्व करते हुए कहते हैं, 'अब हमें शान्तिपूर्ण शासन की आवश्यकता है, हमे न्याय की आवश्यकता है, हमें ब्रिटेन की महान परम्परा को कायम रखना है। सबको समान स्वतन्त्रता देना है'।[1] उनके सभी उदात्त विचारो का बडा स्वागत किया। रानी विक्टोरिया द्वारा उनका अक्षरश पालन भी हुआ। राष्ट्र-निर्माण में सहायक होने के नाते उन्हे राष्ट्रकवि पद से भूषित किया गया। हमारे राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त जी की रचनाओ मे भी ये प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। सामाजिक नियन्त्रण, स्वतन्त्रता, सुख-समृद्धि की भावनाओ से भारत-भारती आदि ग्रथ ओतप्रोत हैं।

रॉवर्ट ब्राउनिंग ने जीवन के आचार-परक सम्बन्धो पर विशेष दृष्टि डाली। शुद्ध-विचार, शुद्ध-व्यवहार तथा सत्य, प्रेम और श्रद्धा आदि भावो को अपनाने पर बल दिया। उन्होने वैवाहिक जीवन के प्रति घोर निराशा प्रकट की और इसे केवल शारीरिक सम्वन्ध न समझ हृदय का सम्बन्ध बनाने की माँग की।[2] मैथ्यूआर्नाल्ड तक आते-आते 'कविता स्वय जीवन और समाज की व्याख्या हो गई।[3] इस प्रकार काव्य और जीवन का निकटतम सम्बन्ध हमें इन कवियो की रचनाओ में मिलता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या कवि समाज-शास्त्री है जो वह समाज का इस प्रकार अध्ययन करता है? क्या वह उपदेशक है जो हमें नीति की शिक्षा देता है? क्या वह राजनैतिक सुधारक है जो राजनीति के मार्ग का हमें पथ-प्रदर्शन करता है? कवि अकेले इनमें से कोई नही। इन सबसे परे उसका एक महान् व्यक्तित्व है जिसमें ये गुण पृथक्-पृथक् उसके अग होकर आते हैं। कवि इन सबका समवेत सुमिश्रित रूप है।

वह किसी एक काल का नही, एक देश का नही। सनातन सत्य की अभि-

---

1 A land of settled government,
A land of just and old renown,
Whose freedom broadens slowly down,
From precedent to precedent —Tennyson

2 Matrimony is the union of hearts —Robert Browning

3 'Poetry is criticism of life' —Matthew Arnold

व्यक्ति करना उसका लक्ष्य होता है, जिससे वह सब काल और सब देश का हो जाता है। पर उस सत्य की प्रेरणा उसे अपने सम-सामयिक समाज से ही मिलती है और अपनी प्रतिभा द्वारा वह उसे स्थायी रूप देता है। यद्यपि टेनीसन ने अपने युग को लक्ष्य करते हुए कहा था कि नारी को पुरुष की आज्ञा-कारिणी बनकर सामाजिक शान्ति में योग देना चाहिए, अन्यथा कल्याण न होगा, पर वह सत्य आज भी लागू है, और आगे लागू रहेगा।

रामचरित मानस की चिरन्तन सत्यमयी पक्तियाँ क्या कभी पुरानी पड सकती हैं ? उन्हे ससार वर्तमान-सत्य के रूप में तो देखता आया ही है, साथ-साथ आशा भी करता आया है कि इसमें बताई हुई सब बातें आगे भी सत्य होगी। सूर के ललित भाव क्या कभी फीके पड सके ? उनकी आभा नित्य नई होकर निखरती चली जा रही है।

'कवि-सत्य सनातन-सत्य होता है। कवि द्वारा चित्रित सौन्दर्य अनश्वर होता है, वह कभी मलिन नही होता। जीवन के इसी सत्य और इसी सौन्दर्य की व्याख्या करना कवि का धर्म होता है।[1] बाह्य भित्तियो को चीरती हुई कवि की पैनी दृष्टि वस्तुओ के अन्तस्तल में जा पहुँचती है। वहाँ वह वास्तविक तत्व को ढूंढती है। उस तथ्य को देखना और दूसरो को दिखाना अपना कर्त्तव्य समझती है जिसे साधारण आँखें देख नही सकती।[2]

जहाँ तक तथ्य के स्वय देखने का प्रश्न है कवि का कर्तव्य अपने लिए है और वहाँ तक वह योगी है, एकान्त साधक है। जहाँ ही उसकी धारणा दूसरो को दिखाने के प्रयत्न की ओर प्रवृत्त होती है, कवि समाज का प्राणी बन जाता है, और फिर किसी दशा में भी उसे समाज से छुटकारा नही मिल सकता। क्योकि दिखाने के लिए अभीष्ट वस्तु में समाज के साथ अनुरूपता होनी चाहिए। अन्यथा समाज उसे अपरिचित और अविश्वसनीय करार कर तिरस्कृत कर देगा। इस कारण कवि को अपने ध्येय में सफलता न मिल सकेगी। कवि यह भली प्रकार समझता है, अतः समाज में उठने वाली अधिकाधिक विचार लहरियो को वह प्रश्रय देने का प्रयत्न करता है। इससे वह एकान्त जीवन से हटकर पूर्णतया

---

1 Poetry is a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty —G H Lewes

2 Poets are to see and show things as in their essence they really are, and not as they exist for the careless, who do not look beyond the outside —Joubert

ससार के निकट सम्पर्क में आता है। जग-जीवन में बधने के बाद जब इसे वह अत्यन्त निकट से देखता है 'तब उसकी वाणी में घोर गर्जना होती है, उसके विचार कानून बनकर फूट पडते हैं, उसके शब्दो में विश्वमोहिनी ध्वनि निकलती है'[1] जो ससार को अपनी उँगलियो पर नचा डालतीहै।

---

1 'He is caught up into the life of this universe, his speech is thunder, his thought is law, and his words are universally intelligible' —Emerson

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी कविता का वर्गीकरण

सस्कृत आचार्यो के मतानुसार हम श्रव्य और दृश्य काव्यो के भेद लिख आए हैं, किन्तु शताब्दियो से नित्य नए प्रयोग करने वाली प्रगतिशील कविता का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि सस्कृति आचार्यो के भेदो-उपभेदो की माप सीमा वहाँ तक पहुँच नही पाती। इसलिए हिन्दी कविताओ के वर्गीकरण के लिए नए-नए माप बनाने पडे हैं। केवल हिन्दी ही में नही बगला आदि भारतीय भाषाओ में भी काव्य के विभिन्न रूपो पर बदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप प्रकाश डाला जा रहा है। काव्यालोक (बगला) के रचयिता दास गुप्त ने बगला कविता का रस बोध और रम्यबोध की दृष्टि मे 'द्रुति काव्य' और 'दीप्ति काव्य' नाम से एक नया वर्गीकरण किया है। 'भावसिक्त चित्त में आत्मानन्द का प्रकाश रस बोध है और बुद्धिदीप्त चित्त में आत्मानन्द का प्रकाश रम्यबोध है।"

द्रुतिकाव्य के तीन भेद हैं।—(१) रसोक्ति (२) भावोक्ति (३) स्वभावोक्ति

दीप्त काव्य के दो भेद हैं—(१) गौरवोक्ति (२) वक्रोक्ति।

द्रुति काव्य के भेदो में स्वभावोक्ति की विशेषता यह है कि प्रकृति और प्राणी सम्बन्धी कवितायें इसके अन्तर्गत मानी जाती हैं।

वक्रोक्ति के अन्तर्गत अर्थ वक्रोक्ति और अलकार वक्रोक्ति दोनो सम्मिलित हैं।

(२) स्वरूप—भेद के अनुसार वर्गीकरण

काव्य स्वरूप की दृष्टि से काव्य के चार भेद हैं। (१) रस काव्य (२) बोध काव्य (३) नीतिकाव्य और (४) काव्याभास।

१. **रस काव्य**—जिस काव्य में कोई स्थायीभाव शब्द एव अर्थ का बल प्राप्त करके रस में परिणित हो जाता है, जहाँ भाव उद्बुद्ध होकर ही रह जाता है, इसकी अवस्था तक नही पहुँच पाता वहाँ भाव-काव्य होता है।

२. **बोध काव्य**—जिस काव्य में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रौढता दिखाई

पडे अर्थात् विचार प्रधान होने से जो काव्य किसी गूढ विषय का महत्त्व दिखाये उसे बोध-काव्य कहते हैं। इसे काव्य इसलिए कहते हैं कि उसमें गूढ विषय को रससिक्त एव सौन्दर्य-मडित करने का प्रयास रहता है।

३. **नीति-काव्य**—जिस काव्य में उपदेश की प्रधानता हो उसे नीति काव्य कहते हैं। काव्य कहने का प्रयोजन यह है कि शिक्षाप्रद उपदेशो को पद्यवद्ध बना कर सुरुचि-पूर्ण किया जाता है। यही रोचकता का गुण उसे काव्यकोटि तक पहुँचाता है।

यदि किसी नीतिकाव्य में सरलता आ जाए तो वह दूसरी कोटि अर्थात् वोधकाव्य तक पहुँच जाता है।

४. **काव्याभास**—जिस कविता मे रस की तो वात क्या किसी भाव या विचार का भी दर्शन न हो, नीति या शिक्षा भी दिखाई न पडे, जिसका श्रोता के हृदय पर कोई प्रभाव भी न पडे वह काव्याभास कहलाती है। उसे कविता क्यो कहते हैं। इसका उत्तार एक मात्र यही है कि ऐसी कविता लिखने अथवा पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित करने वाले सज्जन इसे कविता नाम से पुकारते हैं।

(३)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य-कर्त्ता के दो वर्ग किए। पहले वर्ग में वे कवि हैं "जिनके सुख-दुख, जिनकी कल्पना और जिनके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से ससार के सभी मनुष्यो के चिरन्तन हृदय वेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।"

दूसरी श्रेणी के वे कवि हैं "जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है।" ऐसी रचना करने वाले महाकवि कहलाते हैं।

(४)

पाश्चात्य विद्वानो ने भिन्न-भिन्न दृष्टियो से काव्य का वर्गीकरण किया है। कुछ विद्वानो का मत है कि वाह्यजगत और अन्तर्जगत के अनुभव के आधार पर काव्य को दो वर्गो में विभाजित कर देना चाहिए—

(१) विषय-प्रधान काव्य और विपयिप्रधान काव्य। विषय प्रधान-काव्य में वाह्य जगत के वर्णन की प्रधानता रहती है। विपयि-प्रधान काव्य में मुख्यत कवि के उत्कट मनोवेग प्रदर्शित होते हैं अत इन्हें आत्माभिव्यजन या भाव-प्रधान काव्य भी कहते हैं।

(५)

पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार काव्य के आठ मुख्य भेद किए जा सकते हैं—

(१) महाकाव्य (Epic, Heroic Poetry)

(२) नाट्य काव्य (Dramatic Poetry)

(३) प्रकृति काव्य (Pastoral Poetry)

(४) उपदेशात्मक काव्य (Didactic Poetry)

(५) सौन्दर्य चित्रणात्मक काव्य (Artistic Poetry)

(६) प्रीति काव्य (Lyric Poety)

(७) प्रकृत काव्य (Realistic Poetry)

(८) आदर्शात्मक काव्य (Idealistic Poetry)

इन भेदो मे महाकाव्य (Epic) सब से महान् है। इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) नायक की दृष्टि से इसके दो भेद हैं (क) नायक कोई महान् व्यक्तित्व वाला हो। जैसे 'इलियड'और 'ओडिसी' में। (ख) स्वय कवि ही उसका नायक नायक हो। जैसे 'डिवाइन कामेडी' में डाटे स्वय नायक के रूप में दिखाई पडता है और आद्यन्त प्रथम पुरुष अर्थात् 'मैं' के रूप में बोलता है।

(२) आकार और विस्तार में इसे वृहद होना चाहिए और इसका ढग वर्णनात्मक (Narrative) होना चाहिए।

(३) विषय महान् परम्परागत-प्राप्त एव लोकप्रिय हो, वह अपने मूल पथ से कभी दूर जाकर आँखो से ओझल न हो। अर्थात् कवि अपनी भावना और धारणा के प्रवाह में कथा-सूत्र को छोड कर अपने पथ से दूर बह न जाये।

(४) जातीयता की भावना से ओतप्रोत हो।

(५) जातीय सघर्ष का समावेश हो।

(६) पात्र केवल मानव जाति तक ही सीमित न हो। देवता, भूत-प्रेत आदि अलौकिक प्राणियो को भी अनिवार्य रूप से पात्र बनाया गया हो।

(७) सम्पूर्ण कथा में एकसूत्रता हो, नायक को केन्द्र मानकर वह चतुर्दिक घूमती भले ही रहे।

(८) शैली में स्पष्टता(Perspicuity) और उत्कृष्टता (Sublimity) हो।

(९) उसकी कार्यावस्था का प्रारम्भिक, माध्यमिक और अन्तिम भाग एक सूत्र में गुथा हुआ हो।

(१०) महाकाव्य के चरित्रो में अनेक—रूपता (Variety), नवीनता

(Novelty) और व्यक्ति वैशिष्ट्य । (Individuality) होना चाहिए । होमर के महाकाव्य इलियड का प्रत्येक चरित्र अपनी क्रियाशीलता एव वाग्वैदग्ध्य के द्वारा अन्य चरित्रो से अपना अलग अस्तित्व बना लेता है ।[1]

(११) विचारो में स्वाभाविकता और उदात्त भावना होनी चाहिए । उनमें किसी भी प्रकार की कृत्रिमता, अस्वाभाविकता, निकृष्टता या अश्लीलता वर्जित है ।

(१२) अरिस्टाटल के मतानुसार महाकाव्य की कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) ऋजु (Simple) (२) जटिल (Implex) । जब-जब नायक के भाग्य में स्थिरता हो, उसमें किसी प्रकार की गति न पाई जाय तो वह ऋजुकथा-वस्तु कहलाती है । जटिल कथा-वस्तु दो प्रकार की है—

(क) जब नायक के भाग्य की गतिविधि में एकरूपता हो, या तो उसका भाग्य उसे निरन्तर अभ्युदय एव वैभव-वृद्धि की ओर ढकेलता रहे अथवा पतन के पथ पर सतत घसीटते लिए चले तो कथावस्तु को जटिल की सज्ञा दी जाती है ।

(ख) जब भाग्यचक्र नायक को उत्थान और पतन की दो भिन्न दिशाओ में घुमाता रहे अर्थात् कभी उसे भाग्योदय के दिन देखने को मिले तो कभी दुर्भाग्य के थपेडो से उसे मूर्च्छित होना पडे तो ऐसी कथावस्तु जटिल (Implex) कहलाती है । इस प्रकार की कथावस्तु श्रेष्ठ महाकाव्य के विशेष अनुकूल होती है । जब हम नायक को अभ्युदय या पतन की स्थिति से नाना-प्रकार की विपत्तियाँ झेलते हुए भाग्य की अनिश्चित स्थिति में देखते रहते हैं तो यह जानने की सदा उत्कठा बनी रहती है कि उसके भविष्य में क्या बदा है। इस प्रकार का कथानक हमारे चित्त को सदा आकर्षित किए रहता है ।

आजकल काव्य का एक अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण मिलता है । कविता के पाँच मुख्यरूप इस प्रकार है—(१) प्रबन्ध काव्य (२) वर्णनात्मक काव्य (३) विचारात्मक काव्य (४) भावात्मक काव्य (५) चित्र काव्य ।

१. प्रबन्धकाव्य के भेद—महाकाव्य, खडकाव्य, एकार्थकाव्य, गीतिकथा, मुक्तक-प्रबन्ध, नाट्य-प्रगीत, आत्मचरित ।

२ वर्णनात्मक के अन्तर्गत किसी व्यक्ति, स्थान, दृश्य अथवा यात्रा का वर्णन

---

1. Homer has excelled all the heroic poets that ever wrote, in the multitude and variety of his characters Every god that is admitted into his poem, acts a part which would have been suitable to no other deity —J Addison

पाया जाता है।

३ विचारात्मक काव्यो में उपदेशप्रद, धर्मनिर्देश, नीति सम्बन्धी रचना पाई जाती है।

४ भावात्मक में सब प्रकार की भावनाओ को व्यक्त करने वाली व्यक्तिगत मुक्तक कविताएँ, शोक गीत, प्रेमगीत, प्रगीत, प्रार्थना, स्तुति, आत्मनिवेदन, उपालम्भ सम्बन्धी रचनाएँ मानी जाती हैं।

५ चित्रात्मक काव्य में, कमलबन्ध, खड्गबन्ध आदिबन्धो केअतिरिक्त प्रहेलिका, समस्यापूर्त्ति, कूट, पदगुप्त, अन्तरालाप, वहिरालाप, प्रश्नोत्तर, भाषाचित्र या अन्योक्ति आदि की गणना की जाती है।

तात्पर्य यह है कि ज्यो-ज्यो कविता की सरिता नया-नया मार्ग बनाती चली जा रही है, त्यो-त्यो उसके परिवर्तित रूप की झाँकी दिखाने के लिए नये-नये ढग से वर्गीकरण करना आवश्यक होता जा रहा है। उपर्युक्त विविध भेदो में अनेक का वर्णन हम पूर्व अध्यायो में कर आए हैं। दो-चार नए भेदो का स्वरूप समझाने का यहाँ प्रयास किया जायगा।

एकार्थ काव्य—ऐसे काव्य को कहते हैं जिनमें महाकाव्य के सदृश न तो पचसधियो का विधान होता है और न उनकी कथा अति विस्तृत होती है। कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भावव्यजना की ओर अधिक रहता है, जैसे—रत्नाकर जी का गगावतरण।

मुक्तक प्रबन्ध—जब मुक्तक छन्दो को मिलाकर एक कथा वन जाए तो वह काव्य मुक्तक प्रबन्ध कहलाता है, जैसे—रत्नाकरजी का 'उद्धव शतक'।

नाटकीय गीत—छन्दोवद्ध आत्मचरित जिन्हे किसी कथा के पात्र आत्मानुभव या आत्मभावना के रूप में अभिव्यक्त करते हैं, जैसे'द्वापर' में कृष्ण, यशोदा, नारद, आदि स्वय अपने मनोभावो को प्रगट करते हैं।

शोकगीत—(Elegy) यह प्रगीत काव्य का ही एक भेद है। इसे होमरशैली के महाकाव्य का (Epic) का ठीक विपरीत समझना चाहिए। कवि शोक और प्रेम को का०। का विपय वनाता है और अपने अतीत के रोदन अथवा भविष्य की आशा का गान करता है।[1]

गीतिकथा (Ballead)—साहित्य में वैलेड का अर्थ है वे सरल कथाएँ जो गीत के रूप में कही जाती हैं। सामान्यत भावो को उद्दीप्त करने वाले उन

1 As he will feel regret for the past or desire for the future, so sorrow and love become the principal themes of the elegy —S T Coleridge

लघुगीतो को जो कथानक सयुक्त हो, उसे गीतिकथा कहते हैं। ये कई प्रकार के हैं—कथाहीन नृत्य नाट्य, वाद्यात्मक, एक व्यक्ति के गाने योग्य, समवेत रूप में गाने योग्य, नृत्यगीत इत्यादि।

कुछ लोगो का विचार है कि काव्य का सबसे प्राचीन तथा सार्वभौम रूप बैलेड ही है।

गीतिका (सौनेट)—नियमित तुकवाली चौदह चरणो की गीतिका को प्रगीत या सौनेट कहते हैं। हिन्दी में भी सौनेट लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमे चरणो का वन्धन नही होता। भावात्मकता और लघुता इनकी विशेषता है।

परिवृत्तिकाव्य (पैरेडी)—किसी कवि या किसी शैली विशेष का परिहास करने के लिए उसी शैली पर जो रचना की जाती है उसे परिवृत्ति काव्य कहते हैं। इसके तीन रूप हैं—(१) शब्दात्मिका—जिसमें कुछ शब्द वदल लेने से रचना उपहासास्पद हो जाती है। (२) रूपात्मक—जिसमे किसी लेखक की शैली या शब्द-प्रयोग को हास्यास्पद विषय के लिए प्रयुक्त करते हैं। (३) विषय सम्बन्धी (थीमैटिक) जिसमें किसी कृति का विषय और लेखक की भावना ही बदल देते हैं।

सबोधगीति (Odes)—जिन गीतो मे किसी को सबोधित करके काव्य-रचना होती है, उन्हे सबोधगीति कहते हैं। 'प्रसाद' की 'करुणा की कछार', 'पन्त' की 'छाया', प्रभात की 'आकाश' नामक कविताएँ भी इसी वर्ग में आती हैं।

भारतेन्दु युग के उपरान्त मुक्तक काव्यो का सृजन अन्य प्रकार के काव्यो से कही अधिक हुआ है। आज मुक्तक काव्य का युग है। अतएव मुक्तक काव्य के विषय में विस्तार से विचार कर लेना चाहिए।

मुक्तककाव्य

हम पूर्व अध्याय में मुक्तककाव्य पर प्रकाश डाल आए हैं। प्रसगवशात् यहाँ मुक्तक के भेदो और उपभेदो की भी समीक्षा कर लेनी चाहिए। 'मुक्तेन मुक्तम्' के लक्षण के अनुसार आगे और पीछे के तारतम्य से मुक्त रहने के कारण स्वत पूर्ण पदो को मुक्तक की सज्ञा दी जाती है। मुक्तको के दो भेद—(१) पाठ्य और (२) गेय हो सकते हैं। पाठ्य मुक्तक प्राय शृङ्गार विषयक, नीति परक, सूक्ति परक और कभी-कभी वीरता विषयक भी दिखाई पडते हैं। रहीम और वृन्द के दोहे प्राय नीति परक, गोस्वामी तुलसीदास की दोहावली भक्ति परक, विहारी सतसई और दुलारे दोहावली आदि ग्रथ शृङ्गार परक मुक्तक माने

जाते हैं। शिवावावनी और वीर सतसई वीररस के लिए प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

प्रगीत काव्य

गेय मुक्तक के दूसरे नाम हैं—गीतकाव्य, गीतिकाव्य, प्रगीत काव्य अथवा अंग्रेजी में लीरिक पोइट्री (Lyric Poetry)। प्रगीत काव्य शब्द इस बात का साक्षी है कि प्रगीत काव्यो मे गीतात्मकता किसी न किसी रूप में होनी चाहिए।

गीत काव्य का लक्षण

महादेवी वर्मा का कथन है कि "सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दो में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"

इस परिभाषा से गीत के तीन गुण स्पष्ट होते हैं—(१) कवि का भावावेश स्थिति में पहुँचना (२) शब्दो का समुचित चयन करना (३) रचना का स्वर-साधना के उपयुक्त होना। दूसरे शब्दो में कह सकते हैं कि कवि अपनी स्वानुभूति को जब सस्वर शब्द-साधना के साथ अभिव्यक्त करता है तो उसकी पदावली गीत बन जाती है।

आधुनिक गीत प्राचीन गीतो से एक प्रकार से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि आधुनिक गीतो पर अंग्रेजी की लीरिक पोइट्री (Lyric Poetry) का बडा प्रभाव पडा है। अंग्रेजी में गीत-काव्य (Lyric Poetry) का लक्षण इस प्रकार मिलता है—"गीतिकाव्य निश्चिय रूप से किसी विचार, भाव या स्थिति को प्रकट करता है।" दूसरा लक्षण है कि "गीति-काव्य के लिए गेय होना कोई आवश्यक नही। इसमें कवि की स्वानुभूति को वाह्य घटनाओ से अधिक महत्त्व दिया जाता है।"

सक्षेप में गीति काव्य की विशेषतायें ये हैं-(१) कवि की भावावेशमयी अवस्था

---

1 A (Lyric poetry must be) "held essentially to imply that each poem shall turn upon some single thought, feeling or situation"

B Lyric poetry which is actually sung or not is generally composed in stanzas and as distinguished from epic and dramatic poetry is expressive of the poet's feelings rather than of outward incident or events, and may take a special form as ode, sonnet, hymn or any of numerous verse schemes

C All poetry is musical —Walter Pater

होती है (२) कवि का व्यक्तित्व रागात्मकता के साथ आत्म-निवेदन करता है। (३) जिसका आकार इतना हो कि रागात्मकता का प्रवाह मन्द न पडे (४) जिसमें घटना की अपेक्षा भावना को उच्च स्थान मिले। अर्थात् जिस काव्य में एक तथ्य या एक भाव के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी हो वह गीतिकाव्य है।

गीति काव्य का सक्षिप्त इतिहास

हमारे देश में रामायण, महाभारत सम्बन्धी अनेक लोकगीत अज्ञात काल से चले आ रहे हैं। इनका काल निर्धारित करना सरल नही। समय-समय पर ये लोकगीत साहित्यिक रूप धारण करते रहे हैं। गोस्वामी जी के 'रामलला नहछू' में इसका प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार भारतेन्दु ने लावनी आदि गीतो में उसी लोक गीत को साहित्यिक रूप देने का प्रयास किया।

दूसरी प्रकार के गीत हैं साहित्यिक, जिनका रूप नाथपथियो के पदो में दिखाई पडता है। अपभ्र श में गीतो की परम्परा अवश्य रही होगी। कुछ लोगो का मत है कि हिन्दी के गेय मुक्तक उसी परम्परा से आये होगे। विद्यापति की पदावली पर 'गीत गोविन्द' का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। इससे सिद्ध होता है कि कबीर, तुलसी, सूर आदि कवियो ने जिन गेय पदो की रचना की उनपर—लोकगीत, और साहित्यिक गीत—दोनो का प्रभाव पडा था।

लोक गीतो की कला सौन्दर्य पूर्ण भले ही न हो किन्तु उनको अलकृत करने के लिए कोई व्यक्ति नियम विशेष के बन्धन में नही पडता। किन्तु साहित्यिक गीतो में कला का दिव्य रूप दिखाई पडता है, जो लोक गीतो में सम्भव नही।

छठा अध्याय

काव्य का कलात्मक विश्लेषण

गीतिकाव्य का इतिहास

हम पूर्व कह आए हैं कि गीतिकाव्य ससार में काव्य का सबसे प्राचीन रूप माना जाता है। हमारे देश में एक वेद ऐसा है जिसका पाठ नही गान होता है। ऋषियो ने उसे सामवेद (गान) नाम से ही पुकारा है। गीत शब्द का अर्थ ही है जो गाया जाय। स्वय वेदो के गायको ने उन्हे गीत कहा है—"गीर्भिवरुण-सीमहि"—अर्थात् हे मेरे वरणीय, मैं तुम्हे अपने गीतो से बाँधता हूँ।

बौद्ध साहित्य की थेर गाथाओ में भी गीतिकाव्य का दर्शन होता है। तथ्य तो यह है कि गाथा शब्द का अर्थ है गीति।

कुछ लोगो का मत है कि वैदिक ऋचा और बौद्ध गाथा में अन्तर इतना ही है कि "ऋग्वेद यी ऋचा में ईश्वर का स्तवन मिलता है और गाथा मे मनुष्यो या राजाओ का।"

वाल्मीकि रामायण में पाठ्य एव गेय दोनो के तत्त्व विद्यमान हैं। मेघदूत को कतिपय आलोचक खडकाव्य मानते हैं किन्तु अधिकाश विद्वान् उसे गेय काव्य समझते हैं।

सस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य अपने वास्तविक रूप में 'गीत गोविन्द' में प्राप्त होता है। जयदेव के इस काव्य का हिन्दी साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पडता है। विद्यापति और चडीदास दोनो कवियो ने जयदेव की शैली को आत्मसात् करके ऐसी सरल कोमल-कान्त पदावली उपस्थित की, जिसमें काव्य रस और सगीत रस के मिश्रण से विलक्षण आह्लाददायिनी शक्ति आ गई। विद्यापति के गीत पदलालित्य, सरस राग, हृदय रस और उक्ति वैचित्र्य से आप्लावित होकर गीतिकारो के सम्मुख हिन्दी गीतो का एक आदर्श रखते रहे।

निम्नलिखित उद्धरणो से पाठको को जयदेव के गीत गोविन्द और विद्यापति की पदावली का साम्य स्पष्ट हो जायगा—

गीत गोविन्द—ललित लवगलता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुञ्ज कुटीरे ॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते नृत्यति।
युवति जने न सम सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥

विद्यापति पदावली—सरस वसत समय भल पाओलि दखिन पवन बहु धीरे।
सपनहुँ रूप वचन एक भाखिए मुखसो दुरि करु चीरे ॥

गीत गोविन्द—किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिर विरहेण।
किं धनेन जनेन किं मम जीवितेन गृहेण ॥

× × ×

कि मोरा जीवन कि मोरा जौवन।
कि मोरा चतुरपने ॥ —विद्यापति पदावली

कवीरदास

रहस्यवादी गीतो में कवीरदास का गीतिकाव्य अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। निर्गुण ब्रह्म को अपनी प्रेम-साधना का विषय मानकर और अपने को राम की बहुरिया बनाकर कवीर ने विरह और मिलन सम्बन्धी गीतो में जो राग फूँका वह आज तक जनता को तडपाता और आह्लादित करता आ रहा है। आत्मा और ब्रह्म का सम्वन्ध वताते हुए वह कहते हैं, "हरि मोर पीव मैं हरि की वहुरिया"[1] विरह की स्थिति में तडपन का वर्णन करते हुए कबीर कह उठते हैं—

वालम आओ हमारे गेह रे! तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोको यह सदेह रे ॥

\+ \+ \+

अन्न न भावे नींद न आवे, गृह वन धरे न धीर रे।
अविनासी वुलहा कब मिलिहौं भक्तन के रछपाल ॥

× × ×

मै ठाढ़ी विरहिन मग जोऊँ प्रियतम तुमरी आस ॥

रहस्यवाद की दूसरी स्थिति में पहुँचकर कवीर कह उठते हैं—उस अनत का तेज अनेक सूर्यो के समान जान पडता है और पत्नी ने उस दृश्य को अपने पति के सग जागृत होकर देखा। वह तेज नितात अशरीरी था और प्रकाश, विना सूर्य अथवा चन्द्र के ही, हो रहा था। दान अपने स्वामी की सेवा

१—कबीर ग्रथावली—पद ११७ पृष्ठ १२५

में आनन्द-विभोर होकर लगा हुआ था। परब्रह्म के उस तेज की समता किस वस्तु के साथ करूँ? वह शोभा कहने की नही है, उसे देखते ही वनता है।"[1]

तीसरी स्थिति में पहुँचकर कबीर मस्त होकर कहते हैं—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।

ऐसी मस्ती की स्थिति से अनभिज्ञ जनता को फटकारते हुए कहते हैं—

"यह जग अन्धा मैं केहि समुझावो।

इक दुइ होय उन्हें समुझावों सब ही भुलाना पेट के धंधा।"

कबीर के गीतिकाव्यो में सान्द्र हृदयानुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान का सुन्दर सामजस्य मिलता है।

सूरदास

सूर, तुलसी, मीरा आदि वैष्णव भक्तो के गीतिकाव्यो में रागात्मक तत्वो की प्रधानता पाई जाती है। कई आचार्यों का मत है कि सूर से पूर्व ब्रज में गीतो की कोई परम्परा अवश्य थी जिसमे वैजू बावरे के गीत विरचित हुए थे। व्रज की उस परम्परा का प्रभाव तो अवश्यम्भावी था ही इसके अतिरिक्त जयदेव की गीत-परम्परा, जो चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव और विद्यापति पदावली के द्वारा सर्वव्यापी बन रही थी, भक्त कवियो पर अपना प्रमुत्व जमाती जा रही रही थी। विद्यापति के समान सूर के पदो पर भी गीत-गोविन्द का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।[2]

सूर और तुलसी

सूर और तुलसी के गीतिकाव्यो में समानता भी है और अन्तर भी। दोनो का व्यक्तित्व दोनो के गीतिकाव्यो में मुखर हो उठा है। कृष्ण की बाललीला के गीतो में मानो यशोदा के वहाने सूर के हृदय का स्नेह स्रोत फूट पडा है।

१—कबीर ग्रंथावली—१, २, ३ पृ० १२

२—मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।

—गीत गोविन्द सर्ग १।१

गगन गरज घहराइ जुरी घटाकारी
पौन झकझोर चपला चमकी चहुँ ओर,
सुवन तक चितै नन्द डरत भारी !!

—सूरदास

+ + +

साधक सूर मानो सिद्धि की स्थिति में पहुँचने पर 'भक्ति अर्थात् चिन्मयरस के एकमात्र आकर निखिलानन्द सन्दोह भगवान से मिलकर 'एकमेक' हो गए हैं। यशोदा के गीत के माध्यम से कृष्ण को निरन्तर देखते रहने की सूर की अभिलाषा मानो साकार हो उठी है—

मेरे कान्ह कमल दल लोचन,
अबकी बार बहुरि फिरि आवहु, कहा लगे जिय सोचन।
यह लालसा होत जिय मेरे, बैठी देखत रैहो।
गाइ चरावन कान्ह कुंवर को कबहूं जान न दैहों॥

सूर के गीतिकाव्य में "रतिभाव के तीनो प्रबल और प्रधान रूप—"भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति"—प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। विनय के पद भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत, बाललीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियो के प्रेम-सम्बन्धी पद दाम्पत्य रति-भाव के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इस प्रकार सूर के गीतो में सभी प्रकार के प्रेमतत्व विद्यमान हैं। यद्यपि तुलसी में भी ये तीनो प्रकार के गीत प्राप्त हैं किन्तु गीतावली में प्रबन्धात्मकता की ओर भी दृष्टि होने से सूर की तरह एक प्रसग को कई रूपो में रखना तुलसी ने उचित नही समझा। सूर को तुलसी की भाँति कथाक्रम का निर्वाह तो करना नही था, इसलिए उनका मन जिस रम्य दृश्य को देखने लगता है उसीमें तन्मय होकर सूर को हृदयोद्गार की अभिव्यक्ति के लिए देर तक रोके रहता है। सूर भी भावप्रवणता के कारण उसी ध्वनि-प्रवाह के बीच देर तक गोते लगाते रहते हैं और हर वार एक नया रत्न ढूँढ लाते हैं।

दूसरा अन्तर है दृष्टिकोण का। सूर विनय के पदो में भी सख्यभाव को स्मरण रखते हैं किन्तु तुलसी वात्सल्य में ही दासभाव को नही छोडते। राम के विरह में माता कौशल्या प्रिय पुत्र की 'ललित पन्हैयाँ' को हृदय से लगाती हैं—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
वार बार उर नैननि लावति प्रभु जी की ललित पन्हैयाँ॥

सूर यदि यशोदा के हृदय में बैठकर वात्सल्य रस का आनन्द लेते हैं तो विरहदग्ध गोपियो की आहो से सन्तप्त होते हुए रोदन भी करते हैं—

मेरे नैना विरह की बेलि बई।
सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई॥
विगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई॥
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई॥

सूर के गीतों में हृदय की उन सभी अन्तर्दशाओ का वर्णन मिलता है जो

सम्भव हो सकती हैं ।

तुलसीदास

"गोस्वामी जी की रुचि काव्य के अतिरजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नही थी । गीतावली गीतकाव्य है पर उसमे भी भावो की व्यजना उसी रूप में हुई है जिस रूप मे मनुष्यो को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है ।" शुक्ल जी एक स्थान पर तुलसी के गीतो पर प्रकाश डालते हुए सूर से यह विभिन्नता दिखाते है कि "गोस्वामी जी की दृष्टि वास्तविक जीवन दशाओ के मार्मिक पक्षो के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नही । तुलसी की वाणी पाठको को ऐसी भूमियो पर ले जाकर खडा करने में ही अग्रसर रही है जहाँ से जीते-जागते जगत की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान् की भावमयी मूर्त्ति की झाँकी मिल सकती है ।"

और भावदशाओ के वर्णन में चाहे अन्य कवि तुलसी की समानता भले ही कर जाये पर 'आत्मग्लानि' का जैसा चित्र तुलसी ने खीचा है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । आत्मग्लानि का भाव तभी उदय होता है जब अन्त करण शुद्ध और सात्विक बन जाता है । जब भरत का हृदय राम वनगमन से छटपटाने लगता है और लाख सफाई देने पर भी वे अपने को निष्कलक नही सिद्ध कर पाते तो विलख-कर कहने लगते हैं—

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वै हौं ।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वै हौं ?
क्यौं हौं आज होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै साँची ?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-वच-विसिषन बाँची ?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूझै ?
दीनबन्धु कारुण्य सिन्धु बिनु कौन हिए की बूझै ?

मीरा

गीतिकाव्य में निजी सुख-दुख की जितनी प्रगाढ अभिव्यजना होगी उतनी ही उसकी महत्ता बढेगी । इस दृष्टि से मीरा के गीत अप्रतिम हैं । गिरधर-गोपाल को ही अपना पति मानकर इस विरहिणी ने जिन पदो में आत्मनिवेदन किया है वे निजत्व की पराकाष्ठा तक पहुँच गए हैं । मीरा के विरह से आहत हृदय को जब कसक और वेदना विक्षिप्त बना देती हैं और उसकी मनोदशा का कोई पारखी नही मिलता तो वह पुकार उठती है—

हेरी मैं तो दरद दीवाणी मेरा दरद न जाणै कोइ ।
घायल की गति घायल जाणै की जिन लाई होइ ।

जौहर की गति जौहरी जाणे की जिन जौहर होई।
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस विध होई ॥

हरिश्चन्द्र-युग

भारतेन्दुकाल में गीतिकाव्य की दो धाराये हो गई—(१) आत्मनिवेदन शैली (२) राष्ट्रीय शैली। प्रथम में विद्यापति काल से चली आने वाली आत्म-निवेदन की मधुरिमा प्रधान थी, दूसरी मे दुर्दशाग्रस्त देश की दीन दशा को देख देखकर करुणा का स्रोत उमड रहा था। भारतेन्दु की 'चन्द्रावली'[1] मे प्रथम शैली और 'भारतदुर्दशा'[2] मे दूसरी शैली स्पष्ट झलकती है।

द्विवेदी-युग

राष्ट्रीयता की धारा श्रीधर पाठक के गीतो से वेगवती बनी। पाठक जी का राष्ट्रीय गीत 'जय जय प्यारा भारत देश' किसी समय सारे हिन्दी-प्रदेश में गूंज उठा था। इसका प्रभाव पडना अवश्यम्भावी था। द्विवेदी-युग के सब से अधिक देदीप्यमान नक्षत्र हैं—मैथिलीशरण गुप्त। गुप्त जी की 'भारत भारती' के गीत नगर-नगर, गाँव-गाँव, पाठशालाओ में, सभा-सोसाइटियो में स्थान-स्थान पर गाए जाने लगे। "भारत देश का गौरव सम्पूर्ण देशो से उच्च घोषित किया गया। यह ऋषि भूमि पूज्य मानी गई।"[3] यद्यपि गुप्त जी के राष्ट्रीय गीतो का ही अधिक प्रचार हुआ तथापि यह समझना भूल होगी कि उन्होने अन्य पद्धतियो पर गीतो की रचना नही की।

बाबू गुलाबराय जी का मत है कि गुप्त जी ने चार प्रकार के गीतो का प्रणयन किया—(१) छायावादी (२) आह्लाद सूचक (३) वेदना सूचक (४) नारी-गौरव सूचक।

१—पिय तोहि कैसे राखों छिपाय।
सुन्दर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय॥
× ×
हरीचन्द जीवन धन मेरे छिपत न क्यो इत धाय॥

२—आवहु रोवहु सब मिलि भारत भाई।
हा-हा भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

३—सम्पूर्ण देशो से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।

झकार में छायावादी,[1] साकेत मे आह्लाद[2] और दु खसूचक,[3] यशोधरा में नारी-गौरव[4] सूचक गीत मिलते हैं।

छायावादी गीतकाव्य की प्रेरणाभूमि

हम पूर्व कह आए हैं कि द्विवेदी युग मे गीतिकाव्य की दो प्रमुख धारायें थी—(१) भारतीय परम्परावादी (२) परिवर्त्तनवादी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रथम धारा के समर्थक थे और नवयुवक कवियो मे मुकुटधारी, प्रसाद, पन्त, निराला आदि द्वितीय धारा के परिपोषक। परम्परा-वादियो की रूढिवादिता और हिन्दी के प्रति अँग्रेजीदानो की उपेक्षा के थपेडो से ऊब कर नवयुवक-वर्ग कोई नया मार्ग ढूढने को व्यग्र हो रहा था। इसी काल में बगाल का एक भारतीय अपनी ही भाषा और अपने ही परिचित विचारो के बल से काव्य के विशाल मन्दिर में विश्व के दिग्गज विद्वानो द्वारा सम्मानित किया जा रहा था। उसकी कविता ने भारतीय भाषा-प्रेमियो को उस तिमिरा-च्छन्न काल में आशा की वह ज्योति दिखाई, जिसकी ओर निराश हृदय नव-युवक दौड पडे। रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाएँ बडी रुचि के साथ पढी जाने लगी। गुप्त बन्धु, और सुमित्रानन्दन पन्त ने यह स्वत स्वीकार किया है कि उन पर रवीन्द्रनाथ की रचनाओ का अत्यधिक प्रभाव पडा।

गुप्तजी लिखते हैं—"मेरा यह विश्वास है कि 'गीताजलि' की उस व्यापक प्रसिद्धि ने हिन्दी के कुछ नवोदित कवियो को नई प्रेरणा दी और उसका फल हिन्दी कविता की इस नई धारा का विकास है।"

पन्तजी का मत है—"पूर्व मे उपनिषदो के दर्शन के जागरण की आभा को पश्चिम की यन्त्र-युग की सभ्यता के सौन्दर्य-बोध से दूषित कर कवीन्द्र-रवीन्द्र ने सर्वप्रथम छायावाद की भावना को जन्म दिया।"

१—तेरे घर के द्वार बहुत है किससे होकर आऊँ मैं।
　सब द्वारो पर भीड खडी है कैसे भीतर जाऊँ मैं॥　　　—झकार

२—निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया।
　मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया॥　　　—साकेत

३—शिशिर न फिर गिरि वन में।
　जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज नंदन में,
　कितना कम्पन तुझे चाहिये ले मेरे इस तन में।　　　—साकेत

४—सखि वे मुझ से कहके जाते,
　कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?　　　—यशोधरा

इतिहास साक्षी है कि ईसा की बीसवी शताब्दी लगते-लगते स्कूलो और कालेजो मे अग्रेज़ी-साहित्य की शिक्षा का प्रचार व्यापक बन गया था। परिणाम-स्वरूप अग्रेज़ी काव्य का प्रभाव हिन्दी कविता की गति-विधि पर पडने लगा। नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि इसका सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी की उस काव्य-धारा पर पडा जो थोडी-अधिक "भावप्रवणता और आध्यात्मिकता लिए श्रीधर पाठक के काव्यानुवादो और प्रकृति-साहचर्य-सम्बन्धी मौलिक पद्यो में उद्भासित हुई। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति मे उत्तर भारत की परिवर्त्तन-शील सामाजिक स्थितियाँ मुख्य रूप से कारण बनी थी।"

इन सब कारणो से छायावादी कविता का जन्म हुआ। जन्म-काल में इसका रूप कई आचार्यों को इतना विकृत प्रतीत हुआ कि वे इसका जन्म देश और जाति के लिए अमगलकारी मानते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक बार खीझकर लिखा है कि "छायावादियो की रचना तो कभी समझ में भी नही आती। ये लोग बहुधा बडे ही विलक्षण छन्दो या वृत्तो का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छ पदे, कोई ग्यारह पदे, कोई तेरह पदे। किसीकी चार सतरे गज-गज भर लम्बी तो दो सतरें दो-ही-दो अगुल की। फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्त्ती कवियो की प्रणाली के अनुवर्त्ती, न ये सत्समालोचको के परामर्श की परवा करने वाले। इनका मूलमत्र है 'हमचुना दीगरेनेस्त'। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नही आता।"

आज छायावादी कविता के सम्बन्ध मे आलोचको का मत सर्वथा भिन्न है। आज इसका रूप निखर आया है, इसके सौन्दर्य पर पाठक मुग्ध होता है। इसमें अनेक गुणो का समावेश माना जा रहा है। इसका वर्गीकरण किया गया है। रहस्यवाद और छायावाद का भेद स्पष्ट किया गया है। इसके चार उन्नायक प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी अपनी-अपनी शैली के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं। इनकी सत्यनिष्ठा और सतत तपस्या से छायावाद का रूप निखर आया है। इनकी शैली और विचार-धारा स्पष्ट होगई है।

छायावाद की प्रयोगावस्था—[सन् १६०५ से २० तक]

छायावादी कविता अपने प्रारम्भिक-काल मे स्वच्छन्दतावाद के समीप पहुँ-चती है और परिपक्वावस्था में रहस्यवाद का दर्शन कराती है। सन् १६०५ से १६१२ तक की हिन्दी कविताओ पर अग्रेजी की स्वच्छन्दवादी काव्य-प्रवृत्ति

के अपरिपक्व रूप का प्रभाव झलकता है किन्तु सन् १९१३ से २० तक का समय ऐसा प्रतीत होता है मानो हिन्दी कवियो की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति परिपक्व और प्रगाढ बनती हुई 'छायावाद की विशिष्ट काव्यशैली के रूप में परिवर्तित और परिणत' होती जा रही है। नन्ददुलारेजी का मत है कि "'साधना' के गद्यकवि रायकृष्णदास, स्वय प्रसाद जी और मुकुटधारी पाडेय आदि की तत्कालीन रचनाओ में छायावाद की इस प्रयोगावस्था के चिह्न मिलते हैं। अब तक छायावादी जीवन-दर्शन की रूप-रेखा बन चुकी थी।" 'इन्दु' पत्रिका में प्रसाद जी की छायावादी कविताओ ने इस शैली की कविता के अनेक पाठक तैयार किए। उनकी 'मकरन्दबिन्दु' नामक कविता बडी प्रिय हुई। प्रो० मनोरजन का कथन है कि "सन् १९१३ मे लिखे गीत की एक पक्ति आज भी उन्हे मुग्ध करती है। गीत है—"आज इस घन की अँधियारी में,

कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन की क्यारी में।"

छायावाद का स्पष्ट रूप—[सन् १९२५ ई० तक]

सन् १९२० के पूर्व-पश्चात् छायावादी जीवन-दर्शन के दो रूप स्पष्ट हो गए—(१) राष्ट्रीय रूप (२) साहित्यिक रूप। कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' और 'प्रभा' पत्रिका में 'भारतीय आत्मा' और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के राष्ट्रीय गीत जनता को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे और दूसरी ओर साम्प्रदायिकता और साम्राज्यवादिता से ऊबा हुआ 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला' आदि का कवि-हृदय सत्य-शिव-सुन्दर की खोज में अनेक प्रयोग कर रहा था। सुमित्रानन्दन पन्त की 'उच्छ्वास' नामक काव्यपुस्तिका, निराला जी की 'जूही की कली' और 'पचवटी', 'प्रसाद' जी के 'आँसू' का प्रकाशन होते-होते छायावाद का जीवन-दर्शन धुँधले अधकार से कुछ-कुछ प्रकाश में आने लगा।

छायावाद—काव्यान्दोलन

इसके उपरान्त छायावाद-काव्यान्दोलन हिन्दी जगत् मे सर्वत्र व्याप्त हो गया। प्रथम महायुद्ध के समय ससार के उन्नत देशो में अनेक प्राचीन मान्यताएँ आहत हो चुकी थी। युद्ध के उपरान्त हमारे देश में नई चेतना और नई धारणा की लहरें तेजी से दौड रही थी। महात्मा गान्धी के नेतृत्व में असहयोग-आन्दोलन भारतीयो में ऐसे आत्मविश्वास को जमाता जा रहा था जिसका अनुभव सामूहिक रूप में देश ने शताब्दियो से नही किया था। इस नव-जागरण-युग मे भारतीय जनता का चित्त देश, धर्म, साहित्य और समाज को बन्धन से मुक्त करने को छटपटा

रहा था। साहित्य में रोमाटिक (स्वच्छन्दतावाद), व्यक्तिवाद का मूल्य अंग्रेजी पठित समाज समझ गया था, किन्तु अपने देश की राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति, और भाषानीति में चिंताशीलवर्ग उस व्यक्तिवाद के साथ असामजस्य देखकर तडप रहा था। "सवेदनशील युवक के मन में यह बडे ही अन्तर्द्वन्द्व का काल था। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का हिन्दी कविता मे बीज-वपन तो हो चुका था, पर नवीन मानवतावादी स्वच्छन्दतावादी वैयक्तिक दृष्टि भगी को व्यक्त करने योग्य भापा अब भी नही बन पाई।" कई कवियो ने रवीन्द्रनाथ की वँगलाशैली का अनुकरण किया, किन्तु "छायावादी कवियो की वह भाषा व्यग्य और उपहास का विषय बनी रही।" पर प्रयत्नशील कवियो ने साहस और धैर्य नही छोडा। भाषा को भावो के अनुकूल बनाकर ही दम लिया।

यह अटल सिद्धान्त है कि साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओ से अधिककाल तक विच्छिन्न होकर नही चल सकती। दोनो मे समझौता करना ही पडता है। वाह्यस्थिति और अन्तर्स्थिति में सामजस्य किए बिना व्यक्ति रह नही सकता, समाज चल नही सकता। अत नई परिस्थितियो और नई मान्यताओ के साथ कवियो को अपने प्राचीन सस्कारो का सामजस्य करना पडा। साहित्य रचना और उसके अस्वादन दोनो की शैलियो मे जो महान् अन्तर आ गया था उसके साथ प्राचीन पद्धति का समझौता करना पडा। द्विवेदी युग मे विषय-प्रधान कविता की प्रधानता थी किन्तु नये कवियो ने नए युग के प्रभाव से विषयि-प्रधान (Subjective) कविता की रचना की। कवि की कल्पना उसकी चिन्तन-शैली और उसकी अनुभूति में परम्परागत कल्पना, चिन्तन और अनुभूति से बडा अन्तर आ गया था।

नवीन प्रगीत मुक्तक

इसी अन्तर का परिणाम था—नवीन शैली के प्रगीतमुक्तको की रचना, जिनकी अनेक विशेपतायें आज परिलक्षित हो रही हैं। इन पर आगे चलकर विचार किया जायगा। यहाँ छायावाद नामकरण की समस्या सुलझा लेना आवश्यक है।

छायावाद का नामकरण

कुछ लोगो का मत था कि यह शब्द अंग्रेजी से अत्यधिक प्रभावित वँगला के द्वारा हिन्दी में आया है, किन्तु यह मत अब अमान्य बन गया है। वँगला में छायावादी नाम की कविता का कही पता ही नहीं है। वास्तव में (१) "छायावाद[१] शब्द केवल चल पडने के जोर मे ही" हिन्दी में आ गया है। यह शब्द

१—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ४६।

छायावादी कविता की प्रकृति को प्रकट करने मे सर्वथा असमर्थ है। (२) शुक्ल जी का मत है। "छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्य-वाद के अर्थ मे, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार से व्यजना करता है। रहस्यवाद को अन्तर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तो या साधको की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाविदशा में नाना रूपको के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को योरप मे 'छाया'—फैंटेजमाटा (Phantasmata)—कहते थे। इसीसे बगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे छाया-वादी कहलाने लगे।

(३) छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्यशैली के रूप में है। सन् १८८५ ई० में फ्रास में प्रतीकवादी (Symbolist) कवि हुए। उनकी शैली में "प्रस्तुतो के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीको" को ग्रहण किया जाता था। इसी प्रतीक शैली का अनुसरण करने से हिन्दी की नवीन कविता छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। अत छायावाद का अर्थ हुआ—प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।

(४) गीताजलि तथा अग्रेजी रोमाटिक कवियो की कविताओ की छाया लेकर जो कविता लिखी गई उसका उपहास करने के लिए व्यग्य रूप से किसी ने इसका नाम छायावाद रखा जो आगे चलकर प्रचलित हो गया।

(५) कवि प्रकृति में अपनी ही सप्राण छाया देखता हुआ जड में चेतनता का आरोप करता है। अतः ऐसी कविता को छायावादी कविता कहा गया।

छायावाद और स्वच्छन्दतावाद

योरप मे स्वच्छन्दतावादी (Romantic) कविता का समय सन् १७९८ से १८३२ ई० तक माना जाता है। उस काल की कविता की प्रवृत्ति बहुत कुछ छायावादी कवियो से मिलती है। अत प्रसगवश रोमाटिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ लिखना आवश्यक है—क्योकि कई साहित्यिको के मत से अंग्रेजी का Romanticism (स्वच्छन्दतावाद) ही हिन्दी मे छायावाद

१—प० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५८३ सवत् २००२ दि०

के नाम से अभिव्यक्त हुआ। किन्तु यदि शुक्ल जी के उस मत को, जो उन्होंने फ्रांस के सतो के सम्बन्ध में प्रकट किया है और जिसके आधार पर हिन्दी की कविता छायावादी कहलाती है, मान लिया जाय तो स्वच्छन्दतावाद और छायावाद दो भिन्न शैलियाँ हो जाती हैं।

इस बात को तो सभी स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार क्लासिक (Classic) कविता की रूढिवद्ध-पद्धति से ऊब कर अठारहवी शताब्दी के अन्त में योरुप मे नवयुवक कवियो ने विद्रोह किया, ठीक उसी प्रकार बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में द्विवेदी युग की परम्परागत शैली के विरोध मे भारत में छायावाद का जन्म हुआ। परम्परा से विद्रोह करने वाला युवकवर्ग प्रत्येक देश मे वस्तुगत, रूपगत एव शैलीगत रूढियो की शृखला को तोड फेंकता है। रोमाटिक कवियो ने इगलैड में रूढियो को तोड कर जो कविताएँ की उनमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं। देखना है कि इनमें कौन-कौन विशेषता छायावादी कवियो मे भी मूलरूप मे विद्यमान है।

रोमाटिक कविता का लक्षण इस प्रकार है—

स्वच्छन्दतावादी काव्य वह काव्य है जिसमें उस भावुकतामय जीवन की प्रधानता हो जो कल्पना की दृष्टि से उद्दीप्त अथवा निर्दिष्ट हुआ हो और जिसमें स्वय कवि की आत्मा इस कल्पना-दृष्टि को सशक्त बनाती एव निर्देश करती रहती हो।[1]

स्वच्छन्दतावाद की विशेपता—[वस्तुगत साम्य]

रोमाटिक कवियो द्वारा निवद्ध वक्तव्य-वस्तु में छायावादियो के समान निम्नलिखित बातें बताई जाती हैं—(१) शास्त्रवहिर्भूत कल्पित देशो, मध्ययुग या अतीतयुग के राष्ट्रीय-गौरव के आकर्षक दृश्य तथा मोहक सस्कृति का मनोहर चित्रण (२) रगगत सामजस्य की अपेक्षा उत्तेजक एकागीरगो पर बल देना (३) प्रकृति को व्यक्तिगत और अव्यवहृत प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय समझना और विशेप भाव से उसके उद्धत और उद्दाम वेग वाले रूप पर

---

1 The Romantic spirit can be defined as an accentuated predominance of emotional life, provoked or directed by the exercise of imaginative vision, and in its turn stimulating or directing such exercise

A History of English Literature
by Legouis and Cazamian Page 997

बल देना (४) रहस्यवाद और अति प्राकृत तत्व मे विश्वास (५) कालरात्रि, श्मशान, मकबरा, विनाश, नियतिचक्र, प्रलय, झंझा आदि का भूरिश आश्रयण और (६) स्वप्नलोक, अवचेतन चित्त और आवेशावस्था की बातें।[1]

प्रवृत्तिगत साम्य—

रोमाटिक कवियो की निम्नलिखित प्रवृत्तियो से छायावादी कवियो का साम्य इस प्रकार है—(१) अत्यन्त वैयक्तिक दृष्टिकोण (२) इनके द्वारा निबद्ध-नायक या तो वेदनाग्रस्त, विरक्तिक्लान्त, आत्मकेन्द्रिक व्यक्ति होता है या समाज के विरुद्ध भभकता हुआ विद्रोही, और दोनो ही अवस्थाओ में उसका व्यक्तित्व रहस्यमय होता है (३) कवि द्वारा निबद्ध काव्य-नायक तो इस प्रकार का व्यक्ति होता है, किन्तु स्वय कवि अन्तर्दर्शी मर्मज्ञ व्यक्ति होता है (४) वह तर्क की अपेक्षा भावावेग को, यथार्थ की अपेक्षा आदर्शवाद को, परिस्थितियो से समझौता करने की अपेक्षा महत्त्वाकाक्षा को अधिक गौरव देता है।

शैलीगत साम्य—

(१) नियमो और रूढियो से स्वतत्र रहने का दावा। (२) स्वत-प्रवृत्त भावावेग पर बल (३) दिवास्वप्न जैसी अलीक कल्पना या असलग्न चिंता-प्रवाह, अस्पष्टता, युगपत सौन्दर्यानुभूति तथा कलात्मक प्रक्रिया की पौन पुनिकता की ओर प्रवृत्त होना।

स्वच्छन्दतावाद और छायावाद मे अन्तर

अग्रेजी का स्वच्छन्दतावादी (Romantic) कवि सत्य और सौन्दर्य पर बल देता है, पर कतिपय छायावादी कवियो ने सत्य सुन्दर के साथ शिव को मिलाकर, काव्य में सत्य शिव सुन्दर का सामजस्य करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध कवि कीट्स ने सौन्दर्य को सत्य और सत्य को सुन्दर मानकर दोनो का अभेद सिद्ध किया है। वह जगत में सत्य और सुन्दर के अतिरिक्त और कुछ नही जानना चाहता।[2]

किन्तु छायावादी 'पन्त' इतने से सन्तुष्ट नही। वे कहते हैं—

"जग-जीवन में जो चिर महान् सौन्दर्य पूर्ण और सत्यप्राण,
मैं उसका प्रेमी बनूं नाथ! जिसमें मानव-हित हो समान।"

पन्त प्रार्थना करते हैं कि 'हे नाथ, सौन्दर्य और सत्य से भरी जो महती शक्ति है उसके द्वारा मानवहित की भावना जागृत कर सकूं।"

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

2—Beauty is truth, Truth Beauty, That is all
Ye need to know on this earth —John Keats

अर्थात् सुन्दर और सत्य को शिव से सम्मिलित कर जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर करना छायावादी कवि का उद्देश्य है।

छायावादी और रहस्यवादी गीत मे साम्य

(१) दोनो के गीतो में स्थूल जगत के दृश्य पदार्थों से एक प्रकार की उपेक्षा पाई जाती है। उनकी दृष्टि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म जगत की ओर अधिक रहती है। (२) ये गीत प्राय वहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो की वाते करते हैं। (३) वाह्याकृति का वर्णन भी ऐसे ढग से मिलता है कि प्रकृति के पदार्थों का मानवीकरण करके उनको मानवी भावो से अनुप्राणित किया जाता है। (४) दोनो में वर्ण्य विषय का वायवीकरण (Etherealisation) पाया जाता है। झरना केवल जलराशि को प्रवाहित करने वाला नही वह अपनी कल-कल, छल-छल-ध्वनि से हमारे कानो में कोई रहस्यमय वात कह जाता है। (५) दोनो में प्रकृति और मानव का एकीकरण मिलता है।

छायावाद और रहस्यवाद मे अन्तर

(१) रहस्यवाद मे अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और आध्यात्मिक अनुभूति छायावाद की अपेक्षा अधिक गहन और सान्द्र होती है।

(२) अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जव तक काल्पनिक और प्रयोगावस्था में रहती है, तव तक छायावाद की सीमा के अन्तर्गत होती है किन्तु जव वास्तविक वनकर जीवन में ओत-प्रोत हो जाती है तो छायावाद की सीमा लाघकर रहस्यवाद के घेरे मे पहुँच जाती है।

(३) रहस्यवादी और छायावादी गीतो में सवसे वडा अन्तर यह है कि प्रथम मे क्रमागत किसी न किसी साम्प्रदायिकता या साधना-पद्धति का अनुसरण पाया जाता है किन्तु दूसरी में सभी परम्पराओ से विद्रोह छिपा रहता है।

(४) रहस्यवादी गीतो मे प्रत्यक्ष मानव-जीवन के सुख-दुखो से एक प्रकार का निर्वेद निहित होता है किन्तु छायावादी गीतो में उनके प्रति उपेक्षा नही है।

(५) रहस्यवादी कवि दृश्य जगत को आध्यात्मिकता में असत्य, और व्याव-हारिकता में सत्य वताकर ससार से मुख मोड लेता है। वह तो "भोगैश्वर्य[1] में सलग्न और उसके कारण अपहृत वुद्धि वाले प्राणी को समाधि के अयोग्य" ठहरा कर भोग और ऐश्वर्य की निन्दा करेगा किन्तु छायावादी इस जीवन-दर्शन को स्वीकार नही करता। वह "दैन्य-प्रपीडित, तिरस्कार-प्रताडित, भोगै-

१—भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका वुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

श्वर्य से प्रसक्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र" का भौतिक विकास भी चाहता है और मानवता का उन्नयन भी।

(६) रहस्यवादी केवल उस पारमार्थिक "शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा सपृक्त रहता है जिसमें परिवर्त्तन का नाम नही" किन्तु छायावादी की दृष्टि उस भौतिक सत्ता की ओर भी रहती है जिससे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में समय-समय पर उत्थान के लिए आन्दोलन उठा करते हैं।

(७) रहस्यवादी आप्त वाक्यो, श्रुति-स्मृतियो का आधार लेकर अपनी आध्यात्मिक अनुभूति अभिव्यक्त करता है, किन्तु छायावादी भावना के क्षेत्र मे स्वतत्र विचरता है। वह किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार करने को उद्यत नही।

(८) रहस्यवादी के अध्यात्मपरक विश्लेपरण के अनुसार एक चैतन्य आनन्दघन शक्ति से प्रकृति की समस्त शक्तियाँ उद्भूत होती हैं। वह सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र की सृष्टि उसी चैतन्य शक्ति से अग्निस्फुलिंग के समान मानता है किन्तु "छायावादी-काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुप या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है।"[1]

(९) रहस्यवादी विभु की व्यापकता पर मुग्ध होकर उसकी सौन्दर्याभि-व्यक्ति के लिए प्रकृति का सहारा लेता है, पर छायावादी प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसके सौन्दर्य का कारण ढूंढता है। प्रथम का लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार है दूसरे का सौन्दर्यानुभूति।

(१०) रहस्यवादी अपने काव्य के लिए मुख्यतया ज्ञान और तर्क का आश्रय लेता है, किन्तु छायावादी अपने मनोभावो और मनोवेगो को एकमात्र प्रमाण मानता है।

छायावादी और रहस्यवादी गीतो की तुलना से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "हमारा नया काव्य अपनी स्वतत्र दार्शनिकता के साथ ही अपनी भावभूमि और अनुभूति क्षेत्र में भी पूर्ववर्त्ती काव्य से पृथक् सत्ता रखता है।"[2]

छायावादी गीतो का वर्गीकरण

छायावादी प्रेम-गीतो की पद्धति भक्तिकाल तथा रीतिकाल से सर्वथा भिन्न है। छायावादी प्रेम और सौन्दर्य के वर्णन मे मानसिक पक्ष को अधिक महत्त्व देता है। [3]"उसके सौन्दर्यवर्णन में स्थूलता नही वरन् एक वायवी (Ethereal)

१—नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य पृष्ठ ३२३

२—नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३२४

३—गुलाबराय—काव्य के रूप, पृष्ठ १४२

दिव्यता[1] है और प्रेम आक्रमण के रूप मे न रहकर आत्म निवेदन का रूप धारण कर लेता है।"

(२) **आध्यात्मिक प्रेम-गीत**—यद्यपि आध्यात्मिक[2] मिलन-विरह के गीत मुख्य रूप से रहस्यवादी कवियो में ही पाए जाते हैं किन्तु कतिपय छायावादी कवि भी इस प्रकार के गीत रचते रहते हैं।

(३) **जीवन-मीमांसा सम्बन्धी गीत**—

भावुकता का प्राधान्य होने पर भी छायावादी गीतो में जीवन के आदर्श, विश्व-वेदना[3] तथा व्यक्तिगत सुख-दुख की मीमासा पाई जाती है।

(४) **प्रकृति सम्बन्धी गीत**—छायावाद का सवसे अधिक यथार्थ रूप प्रकृति सम्बन्धी गीतो में निखरा है। छायावादियो ने प्रकृति का वर्णन केवल उद्दीपन के रूप में नही किया है। उन्होने प्राकृतिक पदार्थों का मानवीकरण करके उन पर अपने हृद्गत हर्ष, शोक, प्रेम-प्रीति, दया-करुणा, हास्य-रोदन आदि का आरोप किया है।[4]

(५) **राष्ट्रीय गीत**—छायावादी राष्ट्रीय गीतो में सकीर्णता के स्थान पर व्यापकता है। वह देश की स्वतन्त्रता विश्वमगल के लिए चाहता है, किसी का अमगल करने को नही। 'प्रसाद' के कई राष्ट्रीय गीत इसी कोटि में आते हैं। उनका कार्नेलिया द्वारा गाया हुआ गीत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' हिन्दी-

---

१—कनक किरण के अन्तराल में लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

२—वे स्मृति बनकर मानस में खटका करते हैं निशिदिन।
उनकी निष्ठुरता को जिससे मैं भूल न जाऊँ॥

—महादेवी

३—तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल और कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन। —पन्त

४—ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के।
बुलबुले सिन्धु के फूटे नक्षत्र मालिका टूटी,
नभ मुक्त-कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी। —प्रसाद (आँसू से)

साहित्य का अमूल्य रत्न माना जाता है।

हम रहस्यवाद और छायावाद का साम्य-वैषम्य दिखा आए हैं। रहस्यवादी गीतो का वर्गीकरण कर देने से दोनो का अन्तर और भी स्पष्ट हो जायगा। रहस्यवादी गीतो को मुख्य रूप से पाँच वर्गों में बाँटा गया है—

(१) दाम्पत्य प्रेम सम्बन्धी गीत—इसमें कबीर के स्त्री सम्बन्धी रूपक और मीरा के प्रेम सूचक गीत माने जाते हैं।

(२) ज्ञान प्रधान गीत—दादू, कबीर के गीत इस कोटि में आते हैं। 'प्रसाद' के कई गीत इसी वर्ग में माने जाते हैं।

(३) साधनात्मक गीत—गोरख और कबीर के योग-साधना के गीत इस कोटि मे आते हैं।

(४) भक्ति सम्बन्धी गीत—शुक्ल जी तुलसी, सूर आदि भक्त कवियो के गीतो में रहस्यवाद नही मनाते, किन्तु आधुनिक आलोचको ने अवतारी पुरुषो के चरित्र को भी रहस्यमय मानकर तत्सम्बन्धी गीतो को रहस्यवाद की सज्ञा दी है। कृष्ण भक्तो के वे गीत जो दाम्पत्य या सखी-भावना की अभिव्यक्ति करते हैं, रहस्यवाद के अन्तर्गत माने ही जा सकते हैं।

(५) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद—इसमें प्रकृति द्वारा परमात्मा की अनुभूति की जाती है। रहस्यवादी के लाल[1] की ही लाली सारे विश्व में व्याप्त होती है। छायावादी प्राकृतिक पदार्थों में एक प्रकार का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाता है। वह प्रकृति को व्यक्ति बनाकर उसमें मानवी भावो का दर्शन करता है, किन्तु रहस्यवादी प्रकृति में परमब्रह्म की छटा का दर्शन करता है।

प्रगतिवाद

छायावादी गीतो में प्रारम्भ से ही दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पडी। कई साधक कवि सौन्दर्य-दर्शन के लिए सतत चिन्तनशील थे। किन्तु दूसरे कोरी कल्पना के द्वारा कविता के साथ खिलवाड कर रहे थे। इसी दूसरी प्रवृत्ति के कवियो की निरकुशता पर शुक्ल जी और महावीर प्रसाद द्विवेदी असन्तोष प्रकट करते थे। जहाँ प्रथम प्रवृत्ति के कवियो ने छायावादी काव्य का शृगार किया वहाँ दूसरी प्रवृत्ति वालो ने छायावाद का उपहास भी कराया।

यह प्राकृतिक नियम है कि काव्य की कोई भी शैली चाहे कितनी ही सुन्दर एव गुण-विशिष्ठ क्यो न हो, सतत परिवर्तित समाज की तृप्ति नही कर पाती।

१—लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥ —कबीरदास

छायावादी कवियो के वर्ण्य विषय की सकीर्णता, भावो की अत्यन्त सूक्ष्मता, जीवन से असम्बद्धता देखते-देखते, उनकी टूटी वीणा के अटपटे गीत सुनते-सुनते एक वर्ग को अत्यन्त अरुचि उत्पन्न हो गई। उन्होने छायावाद का प्रतिवाद किया और देश में भुखमरी, कगाली, समाज में घोर विषमता देखते हुए भी कल्पना लोक में विचरण करने वाले पलायनवादी कवियो की भर्त्सना करनी प्रारम्भ की। तात्पर्य यह कि छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में कृपक-मजदूरो, शोपित-पीडितो के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाला प्रगतिवादी वर्ग (Progressive) उठ खडा हुआ। उसे मार्क्सवाद का सहारा मिला, रूसी क्रान्ति का इतिहास मिला, लाल झडा और लाल सेना का आश्रय दिखाई पडा।

छायावाद और प्रगतिवाद का अन्तर

छायावाद यदि गान्धीवाद की अहिंसा और विश्वबन्धुत्व के सहारे हृदय की कोमलता और सहिष्णुता लेकर उठ खडा हुआ था तो प्रगतिवाद, मार्क्सवाद की निर्भय क्राति, सकीर्णता, कठोरता का अस्त्र लेकर दौड पडा। यदि छायावाद ने अन्तर्मुखी वृत्ति के सम्मुख वहिर्मुखी को उपेक्षित किया तो प्रगतिवाद ने वहिर्मुखी वृत्ति के सम्मुख अन्तर्मुखी कोमल वृत्तियो को तिरस्कृत किया।

छायावाद ने आदर्शवादिता की ओर हाथ वढाया तो प्रगतिवादियो ने उस यथार्थवाद से समझौता किया, जिसमें समाज के नग्नचित्र भी प्रशसनीय माने जाते हैं।

प्रेम-गीत

प्रेमगीत दोनो कवियो में प्राप्त होते हैं, किन्तु उनकी शैली में अन्तर है। "छायावादी प्रेमगीतो में एक विशेप सूक्ष्मता, साकेतिकता,साधना और आत्म-समर्पण की भावना है।" किन्तु "प्रगतिवादी-प्रेमगीत अधिक स्थूल, अपेक्षाकृत निरावरण और सामाजिक रूढियो के प्रति विद्रोह-भावना से मिश्रित रहते हैं। इसमें स्वय मिट जाने की अपेक्षा मिटा देने की भावना अधिक है।"

छायावादी और प्रगतिवादी गीतो मे अन्तर

छायावादी कविता में यदि वायवी स्वप्निल वातावरण है तो प्रगतिवादी में विस्फोटक। छायावाद मे यदि सुकुमार कुसुमो पर चलकर वलिदान की भावना है तो प्रगतिवादी में तलवार की धार पर दौडकर शत्रु को पछाडने का आमन्त्रण है। जिन प्रगतिवादी गीतो में भावुकता की माधुरी है वे कलायुक्त होकर जनप्रिय हो गए हैं। प्रगतिवादी गीतो के मूल विषय ये हैं—(१) किसान मजदूरो के प्रति सहानुभूति (२) रूस, मास्को और लालसेना

का यशगान (३) उन्मुक्त प्रेम (४) मार्क्सवाद का समर्थन (५) विश्व के शोषित वर्ग की एकता।

बगाल का अकाल

आधुनिक युग में भुखमरी के कारण तडपकर मरने वाला सबसे बडा जन-समुदाय बगाल में दिखाई पडा। पूँजीपतियों की शोषणवृत्ति तथा चोरबाजारी के घृणित व्यवहारो की अमानुषिक लीला का इससे बढ कर ताडव कभी देखा नही गया था। इस घोर कुकृत्य ने जनता को पूँजीपतियो का शत्रु बना दिया। प्रगतिवाद को सबसे बडा आश्रय इस काण्ड से मिला।

प्रगतिवादी का काव्यालबन

छायावादी कवि ने अपने काव्य के आलबन के लिए केवल कोमल, सुन्दर, मनोरम, गौरवपूर्ण एव महत् का आश्रय लिया। उसने कठोर, कुरूप, अनगढ, घृणित एव लघु को तिरस्कृत किया। प्रगतिवादी ने इस भेद-भाव का विरोध किया। उसने सुन्दर-सस्कृत की अपेक्षा कुरूप और असस्कृत को अधिक अपनाया। उसका तर्क यह है कि जीवन की वास्तविकता को देखते हुए हम कुरूप और लघु को अपने अधिक निकट पाते हैं। सुन्दर और मनोरम तो कही-कही दिखाई पडते हैं। उसको जेठ की दुपहरी में खुले आकाश की बरसती हुई आग में बैठकर पत्थर[1]

१—वह तोड़ती पत्थर
× × ×
कोई न छायादार
पेड वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम-तन, भर-बंधा यौवन,
नत-नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ;
करती बार-बार प्रहार
× × ×
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप:
उठी झुलसाती हुई लू,
× × ×
गर्द चिंगारी छा गई;
प्राय: हुई दुपहर—
वह तोड़ती पत्थर

तोडनेवाली भूखी युवती के हथौडे-युक्त-कर राजप्रासाद की कोमल कुसुम शैया पर ग्रासीन राजरानी के वीणा के तारो को झकृत करनेवाले हाथो से काव्य के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होते है। 'दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर ग्राता' ऐसा भिखारी भी काव्यनायक वनने लगा।

जीवन-दर्शन

ग्राचार्य हजारीप्रसाद के विचारानुसार प्रगतिवाद का जीवनदर्शन इस प्रकार हैं—(१) ससार-स्वरूप भौतिक है, वह किसी चेतन सर्व-समर्थ-सत्ता का विवर्त्त या परिणाम नही है। (२) उसकी प्रत्येक ग्रवस्था की व्याख्या की जा सकती है। × × प्रगतिवादी साहित्यिक रहस्यवाद को ग्रविश्वसनीय, भाग्यवाद को ढकोसला समझता है। (३) ग्रार्थिक विधानो का परिवर्त्तन होने से समाज के रूप का परिवर्त्तन होता है, ग्रौर समाज के रूप के परिवर्तन से सामाजिक मान्यताएँ वदलती हैं। ग्रत प्रगतिवादी कवि नवीन मान्यताओ को दृष्टि में रखकर वास्तविक जीवन के साथ काव्य का सम्बन्ध जोडता है। (४) प्रगतिवादी साहित्यिक "समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नही मानता, किसी वस्तु को ग्रज्ञेय नही समझता तथा किसी ग्रज्ञेय-ग्रलक्ष्य चिरतन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नही मानता।" (५) प्रगतिवादी का लक्ष्य है वर्गहीन समाज की स्थापना।

प्रगतिवादी साहित्यकार के दो वर्ग

इस जीवन-दर्शन को मानने वाले साहित्यकारो के दो वर्ग हैं—(१) कम्युनिस्ट पार्टी से सम्वद्ध साहित्यिक (२) स्वतन्त्र साहित्यिक।

प्रथम वर्ग पार्टी की नीति का पूर्णतया ग्रनुसरण करता है। ग्रौर प्राय उसके ग्रगुलि-निर्देश पर रचना करता है। राहुल सास्कृत्यायन, प्रकाशचन्द्रगुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा ग्रौर भगवतशरण उपाध्याय जैसे चिन्तनशील ग्रालोचक, यशपाल ओर रागेय राघव जैसे उपन्यासकार, ग्रमृतराय जैसे कहानी लेखक ग्रौर शिवमगल सिह तथा नागार्जुन जैसे कवि इसी वर्ग के प्रमुख साहित्यकार हैं।

दूसरा वर्ग स्वतत्र प्रगतिवादियो का है। ये लोग मार्क्स के सिद्धान्तो में पूर्ण ग्रास्था नही रखते। ये लोग स्वाधीन चिन्तन के वल से मार्क्सवाद के सिद्धान्तो को देशकाल के ग्रनुरूप वनाकर ग्रपना जीवन-दर्शन निश्चित करते हैं। रघुवश, धर्मवीर भारती, शभुनाथसिह, ठाकुरप्रसादसिह ग्रौर नामवरसिह इस कोटि में ग्राते हैं।

प्रगतिवाद का मनोवैज्ञानिक निदर्शन

प्रगतिवाद के मूल में प्रगतिशील चेतना काम करती है। प्रगतिशील चेतना बुद्धि के सतत विकास पर निर्भर रहती है। बुद्धि को सदा प्रेरणा देने वाले कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य ऐसे हैं जो शाश्वत हैं। उनमें कतिपय का उल्लेख नन्द-दुलारे वाजपेयी के विचारानुसार इस प्रकार किया जा सकता है (१) "बाह्य सघर्ष से बौद्धिक सघर्ष अधिक शक्तिशाली होता है। (२) शृङ्गारोन्मुख प्रवृत्तियाँ जब सीमोल्लघन करने पर तुल जाती हैं तो असह्य हो जाती हैं। (३) वास्तविक जीवन से दीर्घ काल तक पराङ्मुख नही रहा जा सकता। (४) केवल कौतूहलमय काव्य अधिक काल तक समाज को सन्तुष्ट नही रख सकता। (५) केवल मनोरजन जीवन की समस्त आवश्यकताओ की पूर्त्ति नही कर सकता। (६) जीवन-विघातिनी कला अपने ही हाथो अपना सर्वनाश करती है।"

प्रगतिवाद का भविष्य

कई प्रमुख आलोचको का मत है कि प्रगतिवाद की वर्त्तमान धारा प्रचार की बालुकाराशि मे किसी-न-किसी दिन विलीन हो जायगी। वे कहते हैं कि प्रगतिवादी जीवन के मूल्याकन मे प्रथम दोष यह है कि वह "साहित्य और पैदावार का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे रोटी-पानी या जीवन के सामयिक प्रश्नो को हल करने का सीधा साधन मानकर बहुत ही सस्ता बना देता है।" (२) साहित्य का लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि है, केवल पेट की ज्वाला शान्त करना नही। प्रयोगवादी कविता जीवन के इस शाश्वत धर्म की उपेक्षा करके कबतक जीवित रह सकेगी, यह कहना बहुत कठिन नही। (३) जो साहित्य किसी पार्टी का प्रचार-साधन बनकर रह जाता है, उसका जीवन पार्टी के उत्थान-पतन के साथ बँधा रहता है। कोई भी साहित्य बन्धन में फँसकर विकासोन्मुख नही हो सकता। साहित्य का विकासक्रम रुका कि वह निष्प्राण हुआ।

प्रयोगवाद

सामान्य रीति से प्रयोगवाद का अर्थ होता है काव्य-विषयक अन्वेषण और उस अन्वेषण के परिणामस्वरूप काव्य की शैली। प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि 'अज्ञेय' ने तार सप्तक की भूमिका में लिखा है—"दावा केवल यही है कि ये सातो अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हे समानता के सूत्र में बाँधता है। वल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नही, किसी मजिल पर पहुँचे हुए नही हैं, अभी राही हैं,

राहो के अन्वेषी।" प्रयोगवादी कवियो का मत है कि जिस प्रकार हमारा जीवन गतिशील और सत्यान्वेषी है, पूर्ण सत्य की उपलब्धि होनी दुष्कर है, उसी प्रकार काव्य में भी अन्वेषण ही सम्भव है, पूर्ण सत्य तक पहुँचना सम्भव नही।

हम पूर्व कह आए हैं कि छायावाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई उसके फलस्वरूप मार्क्सवाद से प्रभावित एक वर्ग प्रगतिवाद की ओर झुका, किन्तु दूसरा वर्ग किसी भी राजनीतिक, धार्मिक या साहित्यिक सिद्धान्त को स्वीकार न कर अन्वेषण की ओर उन्मुख हुआ। इस वर्ग के लोगो ने अपनी कविता का नाम प्रयोगवाद रखा। प्रयोगवादियो का ध्येय सभी राजनीतिक वादो के बन्धनो से मुक्त रहकर काव्य के विषय और मडन-शिल्प को नित्य-नवीन प्रयोगो के आधार पर आधुनिक युग के सामाजिक जीवन के अनुकूल बनाना है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

इन दोनो वादो की सीमा के मध्य कोई स्पष्ट रेखा खीचना कठिन कार्य है, क्योकि कई प्रगतिवादी कवि काव्यमडन-शिल्प को उत्तरोत्तर विकसित करने के लिए सतत सतर्क होकर प्रयोग कर रहे हैं और कई प्रयोगवादी साम्यवाद के प्रभावो से प्रभावित होकर विषय-चयन करते हैं। दोनो में अन्तर इतना ही है कि जहाँ प्रगतिवादी वर्गहीन समाज की सृष्टि के उपयुक्त वर्ण्य विषयो को प्रधान महत्त्व देता है वहाँ प्रयोगवादी कवि शैली मे नित्य नये प्रयोग को प्राथमिकता प्रदान करता है। प्रगतिवादी काव्य कला के शृगार को अनावश्यक मानकर प्रभावशाली शैली को ढूढने का प्रयास करता है किन्तु प्रयोगवादी सौन्दर्य के नए प्रसाधनो, नए प्रतीको, नए उपमानो आदि के अनुसन्धान मे लगा रहता है।

प्रयोगवाद के स्पष्ट स्वर

प्रयोगवाद की सबसे बडी विशेषता है चिन्तन शीलता। "स्वय कविता भी इनके चिन्तन का विषय" बन गई है। भवानीप्रसाद मिश्र की निम्नलिखित एक कविता है 'कमल के फूल'—

> फूल लाया हूँ कमल के।
> क्या करूँ इनका ?
> पसारें आप आँचल
> छोड़ दूँ;
> हो जाय जी हल्का !
> किन्तु होगा क्या कमल के फूल का ?

ये कमल के फूल
लेकिन मानसर के हैं,
इन्हे हूँ बीच से लाया
न समझो तीर पर के हैं।

इस कविता मे कमल 'काव्य' का पर्याय है। कविता-कमल का जन्म मानस से होता है। उत्तम कोटि का कवि कविता-कमल को मानस के मानसर से गहराई में उतर कर पा सकता है, तीर पर खडा होकर नही। फिर कवि सोचता है कि काव्य-कमल को गहराई में उतर कर लाया भी तो क्या ? इससे किस प्रयोजन की सिद्धि हुई ? फिर वह उत्तर देता है कि पाठको के उर अंचल को पुष्प से भर देने मे ही इसकी सार्थकता है।

इसी प्रकार का एक और गीत है—

जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह तरह के गीत बेचता हूँ;
मै सभी किसिम के गीत बेचता हूँ,
जी, लोगों ने तो बेच दिए ईमान।
जी, आप न हों सुनकर ज्यादा हैरान।
मै सोच-समझ कर आखिर अपने गीत बेचता हूँ;
जी हाँ, हुजूर मै गीत बेचता हूँ॥

× × ×

जी, गीत जन्म का लिखूँ, मरण का लिखूँ।
जी, गीत जीत का लिखूँ, शरण का लिखूँ॥
कुछ और डिजायन भी है, ये इल्मी—
ये लीजे चलती चीज नई, फिल्मी॥

प्रयोगवादी कवियो में शमशेर बहादुरसिह ऐसे हैं जिनकी कविताओ में 'प्यार की मस्ती, प्रकृति की विविध भाव-भगिमा, साथ ही शहीदो और अपने अधिकारो के लिए सघर्ष करने वालो के प्रति सहानुभूति बिखरी पडी है। एक ओर मन की मस्ती, दूसरी ओर विद्रोही हृदय—ये दो विरोधी गुण इनकी कविताओ में एक साथ खिल उठे हैं।" विश्व के उन्नत देशो के सर्वश्रेष्ठ स्थानो का उल्लेख करते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं—

मुझे अमेरिका का लिबर्टी स्टैचू
उतना ही प्यारा है, जितना मास्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग के स्वर्गीय महल

मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मेरी देहली में प्रह्लाद की तपस्याएं
दोनों दुनियाओं की चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं।

प्रयोगवादी कवियो में अज्ञेय का विशिष्ट स्थान है। उनके चार कविता सग्रह प्रकाशित हैं—(१) भग्न दूत (२) चिंता (३) इत्यलम् और (४) हरी घास पर क्षण भर।

इन रचनाओं की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन्होने ईश्वर, प्रकृति और प्रेम जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो के साथ-साथ दीप, घट, माझी, सैनिक आदि सामान्य विषयो पर भी लेखनी चलाई है। कहा जाता है कि प्रयोगवादी छोटी से छोटी वस्तु की आत्मा में प्रवेश करने का प्रयास करता है। प्रमाण के लिए अज्ञेय की निम्नलिखित कविता देखिए—

वचना है चांदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशि की शान्ति है निस्सार
निकटतर–धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा, नतग्रीव
धैर्य धन गदहा।

प्रयोगवादी कवियो मे गिरजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती ने प्रम और वासना सम्बन्धी कई गीत लिखे हैं। "गिरजा कुमार की प्रेमभावना यद्यपि लौकिक, स्थूल और स्वाभाविक ढग की रही है, किन्तु शैली पर कही-कही छायावादी कवियो की छाप है।" धर्मवीर भारती ने प्रणय सम्बन्धी जो गीत लिखे हैं उनमें "गहरी भावुकता और मौलिकता, जीवन की स्वच्छन्दता और अकृत्रिमता, लोक जीवन की गूँज और मर्यादा, वासना की तीव्रता और उष्णता, कला पर एक प्रकार की रीतिकालीन छाप और उर्दू कविता की नाजुकखयाली का प्रभाव है।"

प्रयोगवादियो की कविताओं में सबोध-गीति (odes) की पद्धति अधिक प्रचलित हो गई है। इन कविताओं में कवि किसी "वस्तु-विशेष को सम्बोधन करके उसके सम्बन्ध मे अपने विचारो और भावों, चित्रो और कल्पनाओं की व्यजना करते हैं।" इस शैली के गीत 'प्रसाद' 'निराला', 'पन्त' आदि कवियों ने भी लिखे हैं। प्रयोगवादी सम्बोध गीति (odes)का एक उदाहरण देखिए—

आकाश !
सुना है, तुम दिगंत व्यापी विभूतियों के स्वामी हो विभापुज
हे महाशून्य !
तुम धारण करते हो गीतो का अमृत-कोष
हे गहन नील के ज्योतिः करण !
तुम लक्ष-लक्ष दीपो का लेकर स्नेह
जल रहे हो अनादि से इसी भाँति।
मेरे हाथो में रिक्त पात्र—
यह है धरती का हृदय—
इसे भरने को निकला मै अधीर !
तुम व्यर्थ हो रहे भीत, तुम्हारी अटल शाति
चिर से नमस्य, चिर से प्रणम्य !
यह रिक्त पात्र भरने को दौडी चली आ रही
विश्वदेव की करुणा की मधुमयी क्रान्ति
जय हो धरती के करण-करण की
म मानव का उच्छ्वास बोलता हूँ !

—केदारनाथ 'प्रभात'
(अवन्तिका—अप्रेल १९५४)

छायावाद और प्रयोगवाद मे अन्तर

छायावादी कवि का प्रधान सवल है प्रतीक-विधान। वह प्राकृतिक पदार्थों में से अपने उपयोग के अनुकूल प्रतीक ढूढ लाता है और उन्हीके आधार से अपनी कुंठाओ को व्यक्त करता है। उसकी इस अभिव्यक्ति मे सहजभाव रहता है, उलझन नही। किन्तु प्रयोगवादी कवि अवचेतन(Sub Consciousness) विज्ञान का उपयोग करने की चेष्टा मे पडकर अपनी कुंठाओ को घुमा-फिराकर वताना चाहता है।

जहाँ छायावादी कवि पाठक को अपने अभिप्रेत भाव का सवेदन करना चाहता है, वहाँ प्रयोगवादी कवि किसी भाव या उसके एक अग को या किसी विचार के एक अश को पाठक के मन में जागृत मात्र कर देना चाहता है।

छायावाद में भावनाओ की रगीनी, कल्पना की ऊँची उडान, भावो की तरलता पाई जाती है, किन्तु प्रयोगवाद में उनके स्थान पर ठोस वोझीले

बुद्धि-वैभव का विलास। प्रयोगवाद मे बौद्धिक तत्वो का प्राचुर्य है किन्तु ये कविताएँ दार्शनिक चिन्ता-धारा को लेश भी अग्रसर नही कर पाती। डा० नगेन्द्र का मत है[1] कि "प्रयोगवादी कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएँ (Intellectual Concepts) हैं जो प्रायः विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।"

प्रयोगवाद की भाषा शैली

प्रयोगवादी कवि की सबसे बडी समस्या अपने व्यक्तिगत विचारो को समष्टि तक पहुचाने के वाहन की है। वह शब्दो के साधारण अर्थ को अनुपयुक्त पाकर उनमें अपने अनुकूल अर्थ भरना चाहता है। उसके विचार से "साधारणी-करण की पुरानी प्रणालियाँ रूढ हो गई हैं अतएव वह भाषा की क्रमशः सकुचित होती हुई केंचुली फाडकर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।"

इस प्रयोग में वह भाषा की समास एव व्यजना शक्ति को इतना बोझिल कर देता है कि शब्द की अर्थ शक्तियाँ दबकर सिसकने-सी लगती हैं। प्रयोग-वादी कवि जब शब्द शक्तियो को भार के नीचे इतना झुकते हुए देखता है कि उसके विचारो की शीशे की मजूषा के गिरकर टूटने का उसे भय होने लगता है तो वह सहारे के लिए "विराम सकेतो, अको और सीधी-तिरछी लकीरो, छोटे बडे टाइप, सीधे-उलटे अक्षरो" को पकड पकड कर ले आता है।

छन्द विधान

प्रयोगवादी कवियो ने सबसे अधिक विद्रोह प्राचीन छन्द योजना के प्रति दिखाया है। वे वर्णिक, मात्रिक छन्दो को काव्य से सर्वथा बहिष्कृत करने का प्रयोग कर रहे हैं। उन्होने अपने छन्द को मुक्त छन्द की उपाधि दी है जिसमें तुक अत मे नही, कही पक्ति के मध्य में आ जाता है। तुक का कार्य है लय को समृद्ध करना। प्रयोगवादी प्रयास करता है कि वह अपने शब्द-चयन के कौशल से काव्य मे गद्यमयता के स्थान पर सगीतात्मकता को आसीन कर सके।

१—डा० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृष्ठ ११७

सातवाँ अध्याय

[नाटक]

(भारतीय आचार्यों के मत से)

इन्द्रियो की मध्यस्थता के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं—श्रव्य-काव्य और दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य वह है जिसका आनन्द कानो द्वारा लिया जाता है और दृश्यकाव्य वह है जिसका आनन्द मुख्यतया आँखो द्वारा प्राप्त होता है। दृश्यकाव्य को श्रव्यकाव्य की भाँति उपयोग में ला सकते हैं, किन्तु श्रव्यकाव्य को दृश्यकाव्य की भाँति सरलता से नही। प्रदर्शन की प्रधानता के कारण दृश्यकाव्य काव्य के दूसरे भेदो से सर्वथा भिन्न और अद्भुत है। भारतीय वाङ्मय में दृश्य-काव्य का विशेष महत्त्व माना जाता है। श्रव्यकाव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य का क्षेत्र मर्यादित है तो भी रसास्वाद और प्रभाव की दृष्टि से दृश्यकाव्य का स्थान श्रव्यकाव्य से ऊपर है। श्रव्यकाव्य का पूरा आनन्द जन साधारण नही उठा सकते क्योंकि वह विद्वत्समाज की वस्तु है किन्तु दृश्यकाव्य जनता की वस्तु है।

दृश्यकाव्य के लिए आदि नाट्याचार्य मुनि भरत ने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग किया है। नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से हुई है। नट् धातु अनुकरण अर्थ में है। दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का भी व्यवहार देखा जाता है। 'रूपक' शब्द का अर्थ है 'रूप का आरोप।'[1]

दशरूपककार धनजय ने अवस्था विशेष के अनुकरण को नाट्य कहा है।[2] अवस्था के इस अनुकरण को कविराज विश्वनाथ ने अभिनय कहा है। नटो की अवस्थाओ का यह अभिनय चार प्रकार का है :—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य्य और सात्त्विक। इन चारो अवस्थाओ का समवेत रूप ही वस्तुत. नाटक की शुद्ध परिणति मानी जाती है।

आंगिक—आंगिक अभिनय में भ्रू, सिर, दृष्टि, हस्त, कटि, पद-चालन आदि की अनेक भगिमाएँ, मुद्राएँ होनी चाहिए। नाट्यशास्त्र में इसका विस्तार

१—'रूपारोपात्तु रूपकम्'—सा० दर्पण

२—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।—सा० दर्पण

से वर्णन किया गया है। वाचिक मे वाणी—उक्तियो के छद, स्वर, शैली, भाषा आदि प्रकारो का अनुकरण किया जाता है। आहार्य में तत्कालीन पात्रो की वेश-भूषा और अनुकार्य की प्रकृतिगत चेष्टाओ का अनुकरण होता है। आजकल वहुत से नाटको में वेश में इतना परिवर्तन कर देते हैं कि उस नाटक के प्रति आस्था ही समाप्त हो जाती है और उपहासास्पद हो जाता है। सात्त्विक—इसमें स्तभ, विवर्णता, स्वेद, रोमाच आदि सात्त्विक गुणो का उद्रेक होता है। वास्तव में प्रारम्भ के तीनो गुणो के रहते हुए भी जव तक सात्त्विक भावो का उद्रेक नही हो पायेगा तवतक अनुकर्त्ता अपने को अनुकार्य से अलग मानता रहेगा जिससे वास्तविक अभिनय न हो सकेगा। और न तो सामाजिक ही तादात्म्य रूप अपना सकेंगे।

भारतीय आचार्यो ने नाट्य के दो भेद किए हैं—रूपक और उपरूपक। रूपको में रस की प्रधानता रहती है, उपरूपको में नृत्य-नृत्त आदि की। आगिक अभिनय-प्रधान को 'नृत्य' कहते हैं। अभिनय-रहित नाचने को 'नृत्त' कहते हैं।

रूपक के दस भेद किए गए हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन।

रूपक के दस भेदो के लक्षण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

नाटक—यह रूपक के सभी भेदो में मुख्य है। इसमें कथा-वस्तु प्रसिद्ध ऐतिहासिक, पौराणिक होनी चाहिए। पाँच सन्धियाँ होनी चाहिएँ। ५ से १० अङ्को में वह विभाजित हो। नायक प्रख्यात वश का राजर्षि हो, प्रतापी, धीरोदात्त हो। मुख्य रस केवल एक ही हो, शृङ्गार अथवा वीर। अन्य रस अग रूप में हो। ४ या ५ ही पुरुष नायक के सहायक हो। अङ्को का स्वरूप गोपुच्छवत् अर्थात् प्रारम्भ के अङ्क छोटे, मध्य के दीर्घ, फिर अन्त के छोटे हो। नाटक का इतना प्राधान्य हुआ कि रूपक के अन्य भेद भी 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के आधार पर सभी नाटक कहे जाने लगे। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का उदाहरण है।

भरत मुनि ने नाटक के लिए लिखा है —

> पचसधि चतुर्वृत्ति चतु पष्ट्यंगसयुतम्,
> षट्त्रिंशल्लक्षणो पेतमलंकारोपशोभितम्।
> महारसं महाभोगमुदात्त रचनान्वितम्,
> महापुरुष सचार साध्वाचार जनप्रियम्।
> सुश्लिष्टसधियोगञ्च सुप्रयोग सुखाश्रयम्,
> मृदुशब्दाभिधानञ्च कवि. कुर्यात्तुनाटकम्।

नाटक के विषय मे भरतमुनि का इतना सादर आग्रह है कि —

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला।
न तत्कर्म न वा योगो नाटके यन्न दृश्यते॥"

प्रकरण—इसकी कथा-वस्तु कवि-कल्पित, लौकिक होती है। शृ गार रस अगी होता है। नायक धीर, प्रशान्त, धर्म, अर्थ और काम में निरत, कही ब्राह्मण, कही अमात्य, कही वणिक होता है। नायिका कुलीन-कन्या या वेश्या होती है। शेष बाते नाटक की ही तरह हैं। मृच्छकटिक, मालती माधव, पुष्प-भूषित इसके उदाहरण हैं।

भाण—इसमें धूर्तों और दुष्टो का चरित्र रहता है। कथानक कल्पित होता है। हास्य रस की प्रधानता होती है। इसमें नायक अपने अथवा दूसरे की अनुभव की बातें आकाश की ओर मुँह उठाकर कहता है और स्वय ही उत्तर भी देता है। एक ही अक में कथानक समाप्त होता है। 'लीला मधुकर' इसका उदाहरण है।

व्यायोग—इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है। स्त्रियाँ विल्कुल नही या बहुत कम होती हैं। नायक धीरोद्धत होता है। कैशिकी वृत्ति वर्जित है। वीर-रस प्रधान होता है। हास्य, शृगार और शान्त रस वर्जित हैं। इसमें अक एक ही होता है। एक ही दिन की कथा वर्णित होती है। भास का 'मध्यम-व्यायोग' उदाहरण है।

समवकार—इसकी कथा प्रख्यात होती है। विमर्श को छोडकर सभी सधियाँ होती हैं। नायक धीरोदात्त होते हैं और उनकी सख्या १२ तक हो सकती है। वे देव तथा दानव दोनो होते हैं। अक तीन होते हैं। वीर रस प्रधान होता है। कैशिकी वृत्ति वर्जित है। इसकी कथा ३६ घडी की होती है। विन्दु और प्रवेशक नही होते। प्रत्येक नायक को क्रिया का फल अलग-अलग मिलता है। इसका उदाहरण 'समुद्र मथन' है।

डिम—इसकी कथा पौराणिक होती है। रौद्र रस प्रधान होता है। और रस सहायक होकर आते हैं। चार अको में विभाजित होता है। विष्कम्भ और प्रवेशक नही होते। देव, गन्धर्व, राक्षस, यक्षादि १६ तक नायक होते हैं। कैशिकी वर्जित है। शान्त, हास्य और शृ गार रस वर्जित हैं। भरत मुनि का 'त्रिपुर दाह' इसका उदाहरण है।

ईहामृग—इसमे प्रख्यात तथा कल्पित दोनो मिश्रित वृत्त होता है। कथा चार अको मे विभक्त होती है। नायक और प्रतिनायक धीरोद्धत, नर या देव होते हैं। मृग की भाँति अलभ्य कामिनी की इच्छा का विषय होता है। शृ गार रस का प्राधान्य होता है। नायक प्रतिनायक में युद्ध की तैयारी होती है। युद्ध नही

हो पाता। प्रतिनायक का वध नही हो पाता। नायक को नायिका नही मिलती है और वह मरने से बच जाता है।

अंक—इसकी कथा प्रख्यात होती है, कवि उसे कल्पना द्वारा विस्तृत करता है। साधारण पुरुष नायक होता है। करुण रस की प्रधानता होती है। स्त्रियो के शोक का विशेष वर्णन होता है। वाचिक युद्ध होता है। बहुत से निर्वेद वचन कहे जाते हैं। भारती वृत्ति होती है। 'शर्मिष्ठा-ययाति' इसका उदाहरण है।

वीथी—इसकी कथा कल्पित होती है। यह भाण से मिलता-जुलता है। उत्तम, मध्यम या अधम कोई एक नायक होता है। अंक एक होता है। शृंगार रस तथा विनोद और आश्चर्यजनक बातो की प्रधानता रहती है। आकाश-भाषित की तरह उक्ति-प्रत्युक्ति होती है। मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ सभी होती हैं।

प्रहसन—इसकी कथा कल्पित होती है। हास्य रस की प्रधानता रहती है। निन्द्य लोगो की प्रधानता रहती है। तपस्वी, सन्यासी आदि नायक होते हैं। अन्त मे उपदेश भी मिलता है।

उपरूपक

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, सलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश।

उपरूपको में 'नाटिका' प्रधान है। इसकी कथा कल्पित होती है। स्त्री पात्र अधिक होते हैं। प्रसिद्ध धीर-ललित नायक होता है। गायन की अधिकता होती है। नायिका राजकन्या, प्रगल्भा होती है। शृंगार रस प्रधान होता है। 'रत्नावली', 'विद्धशालभञ्जिका' इसके उदाहरण हैं। अन्य भेद भी इसी प्रकार लक्षण ग्रन्थो में देखे जा सकते हैं। विशेष उपयोगी न होने से यहाँ उनका विस्तार नही किया जाता।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि हमारे यहाँ एकाकी नाटको का भी प्रचुरता से प्रचलन था। रूपक, उपरूपक के १०+१८=२८ भेदो में से १५ ऐसे हैं जो एकाकी हैं। आधुनिक आलोचको का यह कहना कि भारत में एकाकी का प्रचलन नही था, सर्वथा भ्रामक है। एकाकी नाटक पहले उत्सवो पर सदा अभिनीत होते रहे हैं। हाँ! आजकल समय का अभाव तथा व्यय-साध्य नाटको का प्रचलन कम होने के कारण एकाकी नाटको का प्रचार अधिक हुआ है। भारतेन्दु जी के समय से ही छोटे-छोटे नाटको के लिखने का क्रम चला था, उन्होंने स्वय भी कई नाटक लिखे थे। प्रसाद जी ने भी कई छोटे नाटक

लिखे, पर वे सब प्राचीन शैली के ही हैं। आधुनिक एकाकी नाटको पर अग्रेजी साहित्य का बहुत प्रभाव पडा है। ड्राइग रूमो की सजावट, पूरे पृष्ठ भर में सामग्रियो की तालिका आवश्यक अग बन गई है। इसमें सन्देह नही कि थोडे समय में, थोडे पात्रो के द्वारा इनका प्रभावोत्पादक सफल अभिनय हो रहा है। डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास आदि नाटककारो ने इस दिशा में बडा योग दिया है।

तत्त्व

नाटक के मुख्य तीन तत्त्व हैं—वस्तु, नेता और रस।[1] इन्ही तत्त्वो पर विस्तार से विचार करने के अनन्तर भारतीय साहित्य में नाटको के निर्दिष्ट रूप का ठीक-ठीक पता चलता है। इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और सवाद के विचार से वस्तु के कई भेद होते हैं। इतिवृत्त के विचार से वस्तु के तीन भेद हैं.—प्रख्यात, कल्पित और मिश्रित।

अधिकारी या नायक के सम्बन्ध से वस्तु के दो भेद होते है—आधिकारिक और प्रासगिक। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक 'अधिकारी'। अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली कथा 'आधिकारिक' कहलाती है। आधिकारिक कथा नाटक की मूल कथा होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी अन्य कथाएँ भी आती हैं जो गौण रहा करती हैं और विशेष स्थितियो में प्रसगानुकूल आधिकारिक कथा की सहायता करती हैं। इसीलिए उन्हे 'प्रासगिक' कथा कहते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—बडी प्रासगिक कथाएँ जो दूर तक चलती रहती हैं और छोटी-छोटी कथाएँ जो अवसर विशेष पर आकर और मुख्य कथा की सहायता करके समाप्त हो जाती हैं। बडी कथा को 'पताका' और छोटी को 'प्रकरी' कहते हैं।[2] नाटक में मुख्य होता है उसका 'फल'। 'फल' को कथा का 'कार्य' मानते हैं। नाटक की समस्त रचना में यह 'कार्य' कई अवस्थाओ में दिखाई देता है। ये अवस्थाएँ पाँच होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल की प्राप्ति के लिए जो उत्सुकता होती है उसे 'आरभ' कहते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए जो अत्यन्त उत्सुकता युक्त व्यापार होते हैं उन्हे 'यत्न' कहते हैं। जहाँ फल की प्राप्ति की सम्भावना तो हो किन्तु कुछ आशकाओ से घिरी रहे, उसे 'प्राप्त्याशा' कहते हैं। विघ्न-बाधाओ के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति को 'नियताप्ति' कहते हैं।

१—वस्तु नेता रसस्तेषा भेदक। —दशरूपक

२—सानुबन्ध पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। —दशरूपक

जहाँ सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है वहाँ 'फलागम' होता है। फल-सिद्धि के साधनो के विचार से वस्तु का प्रयोजन भी पाँच भागो मे विभक्त है। जिनके नाम हैं—वीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। फल के प्रथम हेतु को 'वीज' कहते हैं। प्रारम्भ में इसका कथन वहुत छोटे रूप में होता है किन्तु आगे चलकर विस्तार होने पर वही नाटक में अनेक रूपो में फैलता है। जैसे वीज में वहुत वडा वृक्ष निहित है, वैसे ही यह वीज ही वडी कथा का विस्तार पाता है, अतः इसका लाक्षणिक नाम 'वीज' है। दूसरी कथा के विच्छिन्न हो जाने पर प्रधान कथा के साथ उसे जोड देने वाले हेतु को 'विन्दु' कहते हैं। यह 'विन्दु' उसी प्रकार फैला हुआ दिखाई देता है, जैसे जल पर तेल की वूँद। पताका और प्रकरी के लक्षण ऊपर वताए जा चुके हैं। इन पाँचो को अर्थ-प्रकृतियाँ कहते हैं। कार्यावस्थाओ और अर्थप्रकृतियो को जोडने के लिए नाटको में पच-सधियो का विधान किया जाता है। वे क्रमश इस प्रकार हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।

वीज और प्रारम्भ को मिलाने वाली सन्धि को, जिसमें वहुत से रसो की कल्पना होती है, 'मुख' कहते हैं। जहाँ मुख सधि में उत्पन्न वीज कभी लक्षित और कभी अलक्षित रहता है, वहाँ 'प्रतिमुख' सन्धि होती है। जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इन दोनो के पारस्परिक प्रेम को, जो प्रथम अक में सूचित कर दिया गया था, सुसगता और विदूषक ने जान लिया। यह तो हुआ लक्षित। और वासवदत्ता ने चित्र वाली घटना से उसका अनुमान मात्र किया, यह हुआ अलक्षित। जिस सधि में उपाय कही दव जाए और उसकी खोज करने को वीज का और भी विकास हो, उसे 'गर्भ' सन्धि कहते हैं। इसमें फल छिपा रहने के कारण यह नाम पडा है। जहाँ पर फल का उपाय पूर्ण विकसित हो जाए किन्तु वीच में शाप, क्रोध, विपत्ति के कारण विघ्न आ जाए तव 'विमर्श' या अवमर्ष-सधि कहते हैं। इसमें नियताप्ति और प्रकरी की सधि होती है। जहाँ एक ही प्रधान प्रयोजन में कार्य और फलागम के साथ-साथ सव प्रकार के अर्थों की समाप्ति हो जाती है, उसे 'निर्वहण' सधि कहते हैं। यह वात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारो से किया जाता है, तथापि तीनो के पाँच-पाँच भेद होते हैं। और वे एक दूसरे के सहायक या अनुकूल होते हैं।

अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वो से, अवस्थाएं कार्य-व्यापार से और सधियाँ रूपक-रचना के विभागो से सम्बन्ध रखती हैं। स्पष्टता के लिए नीचे सारिणी दी जाती है—
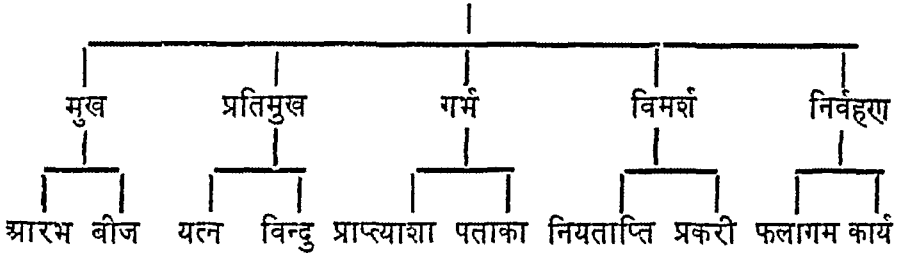
उपन्यास या प्रबन्ध-काव्य में कथा को विस्तृत किया जा सकता है। पाठक कुछ घटे या कुछ अधिक दिन भी लगा सकते हैं। पर रूपक की कथावस्तु सीमित होती है। उसे लगभग ३ घटो में ही या नियत समय में समाप्त कर देना पडता है। अत नाटककार समस्त कथावस्तु में से उन्ही आवश्यक मार्मिक स्थलो का चयन करता है जो नायक-नायिका के चरित्र-चित्रण में सहायक हो, साथ ही रग-मच पर कुशलता से नि·सकोच दिखाए जा सकें। इस प्रकार अभिनय के विचार से कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—वाच्य और सूच्य।

वाच्य का विचार ऊपर हो चुका है। नाटक में ऐसी कथाए, जिनका उसके नाटक के उद्देश्य से कोई सीधा सबन्ध नही होता, किन्तु कथा की अखडता के विचार से जिनकी सूचना अवश्य दी जाती है, उन्हे 'सूच्य' या 'अर्थोपक्षेपक' भी कहते हैं। अर्थोपक्षेपको के भी पाँच भेद होते हैं—विष्कभक, प्रवेशक, चूलिका, अका-वतार और अक मुख।

भूत और भविष्य की घटनाएँ 'विष्कभक' के द्वारा सूचित की जाती हैं और इसमें सूचक मध्यम श्रेणी का पात्र होता है। 'प्रवेशक' में भी विष्कभक की ही तरह घटनाएँ सूचित की जाती हैं किन्तु यह सूचना नीच पात्र के द्वारा दी जाती है। नेपथ्य से जब किसी घटना की सूचना दी जाती है तो उसे 'चूलिका' कहते हैं। किसी अक के अन्त में आगामी अक में घटित होने वाली घटना की सूचना दे दी जाती है, उसे 'अकावतार' कहते हैं। पिछले अक में सूचना देने वाला पात्र जब अगले अग में रगमच पर काम करता हुआ दिखाई देता है तो उसे 'अकमुख' कहते हैं।

रगशाला में कार्य करने वाले पात्रो के सवाद के विचार से कथा के तीन भाग किए गए हैं :—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य।

किसी पात्र की उक्ति को रगशाला में उपस्थित यदि सब पात्र सुनें तो वह 'सर्वश्राव्य' है, यदि उनमें कुछ ही सुनें तो उसे 'नियतश्राव्य' कहते हैं। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह इस प्रकार कोई बात कहता है, मानो वह

किसी को सुनाना नही चाहता और न कोई उसकी बात सुनता ही है। ऐसे कथन को 'अश्राव्य', 'स्वगत' या 'आत्मगत' कहते हैं। 'नियत-श्राव्य' के भी दो भेद किए गए हैं —जनातिक और अपवारित। आधुनिक विचार के अनुसार नाटको मे स्वगत-कथन कृत्रिम माना जाने लगा है, क्योकि पात्र रगशाला में उपस्थित होते हुए भी सुनी-अनसुनी करते हुए मान लिए जाते हैं। यद्यपि सामाजिक (दर्शक) दूर बैठे हुए भी सुन लेते हैं। यही बात नियत-श्राव्य और उसके भेदो के विषय में भी है। आजकल सर्वश्राव्य को ही उचित माना जाने लगा है। यदि स्वगत-कथन की आवश्यकता प्रतीत होती है तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की बात व्यक्त करता हुआ दिखाया जाता है, जब रगमच पर उसके अतिरिक्त कोई पात्र नही रहता। प्राचीन नाटको में कही अनावश्यक पात्रो की न्यूनता के लिए 'आकाश-भाषित' की योजना पाई जाती है, जिसमें पात्र स्वय ही प्रश्न भी करता है और उत्तर भी देता है। इसमें भी कृत्रिमता के कारण आधुनिक नाटककारो ने त्याग दिया है। कथावस्तु के जितने भेदोपभेद उल्लिखित हैं, वे सभी नाटको में थोडे बहुत अवश्य होते हैं। कोई नाटककार जानबूझकर शास्त्रीय प्रक्रिया का विधान करेगा तो उसमें शास्त्र-सम्पादन की दृष्टि से कृत्रिमता परिलक्षित होने लगेगी। सफल नाटककार जब नाटक प्रस्तुत करता है तो स्वत वे सारे नियम अपने आप घटित होने लगते हैं, जो शास्त्र-सम्मत हैं। भारतीय पद्धति पर जिनकी थोडी भी आस्था रही है, उनके नाटको में इन तत्त्वो को समुचित स्थान मिला है।

अभिनय की रोचकता के विचार से' पात्र-प्रवेश के ढगो का उल्लेख भी शास्त्रो में मिलता है। प्राचीन नाटको में सूत्रधार, नटी, स्थापक आदि अभिनेता नाटक के आरम्भ मे आते थे। निर्विघ्न कार्य-समाप्ति की दृष्टि से नान्दी पाठ होता था।[1] तदनन्तर उनका परस्पर वार्तालाप होता था। कवि के गुण-कीर्तन के बाद नाटक प्रस्तुत करने का विचार होता था। ऋतु के अनुसार गायन के बाद यह बातचीत नाटक की मूल कथा से जोडी जाती थी।[2] इस

१—आशीर्वचनसयुक्ता, स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीना तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥ —सा० दर्पण

२—नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिता सलाप यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यै स्वकार्योत्थै. प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथ.।
आमुखं तत्तु विज्ञेय नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥ —सा० दर्पण

प्रकार कथा के जोडने के प्रकारो की दृष्टि से प्रस्तावना के पाँच भेद माने जाते हैं —उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। जहाँ अप्रतीतार्थ को व्यक्त करने के लिए और शब्द जोड दिए जाते हैं, वहाँ 'उद्घातक' प्रकार होता है। जहाँ सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण कर कोई पात्र प्रवेश करे, वहाँ 'कथोद्घात' होता है। यदि किसी प्रयोग के भीतर दूसरा प्रयोग आरभ हो जाए और किसी पात्र का प्रवेश हो तो उसे 'प्रयोगातिशय' कहते हैं। जहाँ समय के वर्णन के अनुसार पात्र का प्रवेश हो वहाँ 'प्रवर्तक' होता है। जहाँ सादृश्यादि के द्वारा किसी पात्र का प्रवेश सूचित हो, वहाँ 'अवगलित' होता है।

नाटक में वर्जित दृश्य–कुछ ऐसे कार्य हैं, जिन्हे मच पर दिखाना वर्जित है। जैसे दूर से किसी को बुलाना, वध, युद्ध, राज्यविप्लव, देश-विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलोत्सर्ग, मृत्यु, रति, दन्तच्छेद, नखच्छेद और इसी प्रकार की अन्य लज्जास्पद बातें, शयन, अधरचुम्बन, नगर पर घेरा डालना, स्नान, सुगन्धित वस्तुओ का प्रलेप और किसी प्रसग का अति विस्तार।

यह विधान उस समय का है, जब रगशाला में वैज्ञानिक साधन नही थे, या जिनके दिखाने से जनता में उद्वेग फैलता था। आजकल चलचित्रो में वे बहुत से कार्य दिखाए जाने लगे हैं, जो प्राचीन काल में वर्जित थे। नाटक मे किसी साधारण पात्र का वध भी किया जाना उतना निषिद्ध नही है। हाँ ! नायक का वध नही होना चाहिए। स्वर्गीय प्रसाद जी के नाटको में ऐसे दृश्य आए हैं। 'अजातशत्रु' में सेनापति बन्धुल का वध हुआ है। तात्पर्य इतना ही है कि नाटक की मूल कथा में जिन दृश्यो के कारण कथा रुकती हो या जिनसे सामाजिको के हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो, ऐसे दृश्यो को वर्जित किया गया है।

नेता—नाटक का दूसरा तत्त्व नेता है, यो तो नाटक में अनेक पात्र महत्त्व के होते हैं, उन्ही के सहारे कथावस्तु का विस्तार होता है। यदि हम पात्रो के कथोपकथन आदि पर कुछ विशेष ध्यान न दे, तो भी हमें केवल वस्तु और चरित्र के विकास से ही नाटक की सब बातो का पता लग जाए और हम जान लें कि नाटक का कौन पात्र कैसा है। नाटक का कोई न कोई उद्देश्य होता है। कथावस्तु अन्त में उसी में परिसमाप्त होती है। भारतीय आचार्यों ने नायक और नायिका का विशेष रूप से विवेचन किया है। साथ ही किन्ही विशेष गुणो से उन्हे सुसज्जित माना है। नायक को आचार्य धनजय के अनुसार विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, लोकप्रिय, वाग्मी, कुलीन, स्थिरचित्त, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृतिसम्पन्न, उत्साही, कलाविद्, शास्त्रो का ज्ञाता,

आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार उसे सभी उच्च गुणो से सम्पन्न होना चाहिए। नायक नम्र हो, किन्तु ऐसा नम्र न हो जो पददलित किया जा सके। भारतीय नाट्यशास्त्र के नायक की नम्रता दौर्बल्य की नही वरन् उच्च शील और सस्कृति की द्योतक है। इसीलिए नम्रता के साथ स्वाभिमानी तथा तेजस्वी भी होना अनिवार्य है। प्रकृति-भेद से नायक चार प्रकार के कहे गए हैः—उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशान्त। इन विशिष्ट प्रकार के कहे नेता-वर्ग से यह प्रतीत होता है कि हमारी परम्परा आदर्श रही है। हम उन्ही गुणो वाले व्यक्ति को नेता बनाएँगे, जिनकी छाप समाज के लिए कल्याणकारिणी हो। काव्य का उद्देश्य ही हमारी उदात्त भावनाओ को जागरूक करना है। आधुनिक भौतिक यथार्थवादी युग मे ऐसे भी नायक होने लगे हैं, जिनसे हमारी प्राचीन परम्परा का मेल नही बैठता।

१ **उदात्त**—शक्ति-सम्पन्न, आत्मश्लाघा-रहित, क्षमावान्, ऊर्जस्वी, हर्ष-शोक में समगति, विनीत, दृढव्रत, उदात्त नायक होता है। राम, युधिष्ठिर इसी श्रेणी के नायक हैं।

२ **उद्धत**—मायावी, प्रचण्ड,चञ्चल प्रकृति, अहकार-दर्पपूर्ण, आत्मश्लाघी, इन गुणो से युक्त नायक 'उद्धत' कहलाता है। इस श्रेणी में भीमसेन, परशुराम आदि आते हैं।

३ **ललित**—निश्चिन्त, सुकुमार, कलाविद्, 'ललित' कहलाता है। जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज।

४ **प्रशान्त**—नायकोचित सामान्य गुणो के अतिरिक्त शान्त,प्रसन्न स्वभाव का नायक 'प्रशान्त' कहलाता है। जैसे--'मालती-माधव' में माधव, 'मृच्छ-कटिक' मे चारुदत्त आदि।

नायिका—नायक की प्रिया पत्नी को 'नायिका' कहते हैं। आधुनिक नाट्य-शास्त्र में यह आवश्यक नही है कि नायक की प्रिया या पत्नी ही नायिका हो। पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार जो स्त्री नाटकीय कथावस्तु के विकास में प्रधान योग दे, वही 'नायिका' कहलाएगी। परन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्र में नायक की प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायक के सामान्य गुण नायिका में भी आव-श्यक हैं। नाट्याचार्य भरत मुनि ने नायिकाओ के चार भेद गिनाए हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका। परन्तु ये भेद न तो सर्वमान्य ही हुए और न विशेष प्रचलित ही। नायिका के मुख्य तीन भेद सर्वमान्य हैं। धनजय ने

भी इसे ही माना है—स्वकीया, परकीया और सामान्या। इनके अनेक भेदोपभेद हैं, जिनका वर्णन यहाँ अप्रासगिक होगा।

प्राचीन नाटको मे नायिका को प्रधानता नही मिलती रही, ऐसा प्रतीत होता है। आधुनिक नाटको में नायिका को भी फल-प्राप्ति की अधिकारिणी माना गया है। स्वर्गीय प्रसाद जी का 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक इसका ज्वलत उदाहरण है। इसमें ध्रुवस्वामिनी ही मुख्य पात्र के रूप में प्रस्तुत की गई है।

अन्य पात्र—नायक के कार्यों में बाधा डालने वाला या फल-प्राप्ति में विलम्ब पहुँचाने वाला पात्र 'प्रतिनायक' कहलाता है। पर ऐसे पात्र का सभी नाटको में न तो होना ही आवश्यक है और न उसका कोई विशेष प्रतीक ही मिलता है। सस्कृत नाटको में विदूषक का होना आवश्यक माना जाता था। यह 'ब्राह्मण' होता था, इसका मुख्य कार्य राजा को प्रसन्न करना, नायक-नायिका के मनोमालिन्य को दूर करना, भोजन-प्रियता एव अवसर पर उचित परामर्श देना होता था। आधुनिक नाटको में विदूषक नही रखा जाता। प्राचीन नाटको में अधम नायक तथा स्त्री पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते थे। केवल नायक तथा कुछ मुख्य पात्र ही सस्कृत का प्रयोग करते थे। आजकल इतना अवश्य ध्यान दिया जाता है कि पात्रानुकूल भाषा-भाव का प्रदर्शन हो। यथासभव पात्र इतने ही होने चाहिएँ जो कथा की शृखला को सुन्दर ढग से आगे बढाएँ, जिससे अभिनय सुन्दर हो। किसी-किसी नाटक में बीसियो पात्रो के रख देने का फल यह निकलता है कि उनका अभिनय सफल नही हो पाता।

वृत्ति—नाटक के नायक और नायिका के विशेष व्यापार को वृत्ति[1] कहते हैं। ये वृत्तियाँ चार होती हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। शृगार रस में कैशिकी वृत्ति और वीर, रौद्र एव वीभत्स मे सात्त्वती वृत्ति का सर्वत्र व्यवहार होता है।[2] कोमल भावनाओ में कैशिकी तथा उग्र ओज पूर्ण भावनाओ में सात्त्वती और आरभटी का प्रयोग उपयुक्त है। भारती वृत्ति उभयनिष्ठ है, अर्थात् उसका उग्र और कोमल दोनो में व्यवहार होता है। जिसमें मनोहारी वेश-रचना,

---

१—विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः।

—काव्य मीमासा

२—शृंगारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥

—सा० दर्पण

नृत्य गीतादि का आधिक्य, सुख-भोग की सामग्री का प्राचुर्य हो, उस विलास-युक्त वृत्ति को 'कैशिकी' कहते हैं। इस वृत्ति में शृंगार के साथ हास्य भी सहायक रूप में रहता है। जिसमें बल, शौर्य, त्याग, दया, सरलता और हर्ष-युक्त सामग्री की बहुलता हो, उसे 'सात्त्वती' वृत्ति कहते हैं। इसमें अद्भुत रस का व्यवहार होता है। माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, वध, बधन आदि से युक्त उद्धत वृत्ति को 'आरभटी' कहते हैं। इसमें वीर, रौद्रादि रसो का व्यवहार होता है। ये वृत्तियाँ नायक-नायिका या अन्य विशिष्ट पात्रो में स्वतः अभिव्यक्त होती हैं।

कथोपकथन—पात्रो के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। नाटक प्राय सर्वसाधारण के लिए रचे जाते हैं, अत इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उनके कथोपकथन जटिल, गम्भीर न हो। कही-कही नाटककार अपने सिद्धात को पात्रो के द्वारा प्रस्तुत करते हैं, पर इसमें बडी दक्षता की आवश्यकता है। पात्रानुरूप प्रासगिक कथन ही उपयुक्त होता है। भाषा सरल, सुबोध, शिष्ट-जन-सम्मत होनी चाहिए। चाहे पात्र किसी भी प्रान्त का हो, उसकी भाषा वही होनी चाहिए जो नाटक की है। सवाद काव्य-गुण युक्त होने चाहिएँ।

सकलनत्रय—यूनानी नाट्यकारो ने वस्तु, देश और काल की मर्यादा पर बडा ध्यान दिया है। पाश्चात्य विद्वानो ने भी इस पर विवेचना की है। भारतीय नाट्यकारो ने इसको कोई आवश्यक अग नही माना है। घुणाक्षरन्याय से अगर कही ये सकलन बैठ जाएँ तो यह सभव है, पर नाटककार जान-बूझकर इनके बधन में नही फँसे। हाँ! ये नाटक में अवश्य पाये जाते हैं। वस्तु का निर्वाह अन्त तक समान गति से होता है। देश-सकलन में विभिन्न स्थानो की कथाएँ इस रूप में प्रदर्शित की जाती हैं कि सामाजिक उनको भाँप नही पाते, न तो उनकी विचार-शृखला टूटने पाती है। काल-सकलन का प्रदर्शन भी चातुर्य से होना चाहिए। नाटककार वर्षो की कथा को इस रूप मे प्रदर्शित करता है कि दर्शक उस व्यवधान से ऊबते नही। नाटककार की कला की विशेपता इसी में है कि वस्तु, देश और काल मे यथा सम्भव अन्तर कम हो और रगमच पर इस कला से अभिनय दिखाया जाय कि दर्शक का ध्यान ही उधर न जाय।

रस—नाटक का तीसरा तत्त्व रस है। भारतीय काव्य का लक्ष्य अलौकिक आनन्द है, उसे ही 'रस' कहते हैं। अन्य दोनो तत्त्व तो इस महत्तत्त्व के साधक हैं। रस का विस्तृत विवेचन तो श्रव्य-काव्य के प्रकरण मे होगा। नाटको का मुख्य उद्देश्य है सामाजिको के हृदय मे बीज रूप में स्थित रत्यादि भावो को अकुरित करना, जिसमे शृगारादि रसो मे निमग्न सामाजिक साधारणीकरण

की अवस्था प्राप्त कर सकें। भरत मुनि ने नाटको के प्रसग में शान्त रस को छोड कर शेष आठो रसो का वर्णन किया है। पर प्रधान दो ही रस माने गये हैं.—शृगार अथवा वीर। अन्य रसो की व्यजना गौण रूप में होती थी। वीभत्स रस का वर्णन अग रूप में भले ही आये पर अगी रूप में नही। लक्षण ग्रन्थो में रस-विरोध का भी दिग्दर्शन है। किस रस का किस रस से विरोध है। जैसे—शृगार का करुण, वीभत्स, रौद्र और भयानक से, हास्य का भयानक और करुण से, करुण का हास्य और शृङ्गार से, रौद्र का हास्य, शृङ्गार और भयानक से, वीर का भयानक और शान्त से, भयानक का शृङ्गार, वीर, रौद्र और हास्य से, शान्त का वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से, और वीभत्स का शृङ्गार से विरोध है।

शान्त रस का प्रयोग नाटक में इसलिए नही होता कि अभिनेता 'निर्वेद' के कारण शान्त रस का अभिनय नही कर पाता तथा सामाजिक भी प्राय इस रस के पान के लिए तैयार नही होते। करुण-रस पूर्ण नाटको में यह विशेषता है कि दर्शक अश्रुपात करते रहेगे, आँसू पोछते रहेंगे पर आनन्द में कमी नही आने पायेगी। कारण यह है कि उसका परिणाम सुखान्त होता है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में श्मशान घाट के दृश्य से सामाजिक द्रवित हो जाते हैं, अश्रुधारा बहाते हैं पर 'परिणामे गरीयसी' के सिद्धान्तानुसार रस से सराबोर होकर आनन्द लेते हैं।

नाटककार को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विरोधी रस अगागिभाव से न आने पाएँ।

पाश्चात्य विद्वानो ने नाटक के छ तत्त्व माने हैं। डा० श्यामसुन्दरदास ने भी साहित्यालोचन में इन छः तत्त्वो का विवेचन किया है। वस्तु, पात्र, सवाद, देश-काल, शैली और उद्देश्य। भारतीय दृष्टि से इनका तीन ही तत्त्वो में समावेश सम्भव है। वस्तु तो स्वतन्त्र है ही। बीच के चारो तत्त्वो का समावेश नेता में होता है। अन्तिम का ही दूसरा नाम रस है, क्योकि किसी भी नाटक का उद्देश्य रस-परिपाक ही है।

अनेक ऐसे प्रसग आते हैं, जिनमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि नाटककार किस उद्देश्य से इस रचना को प्रस्तुत कर रहा है। ऐसी स्थिति में नाटक के समस्त पात्रो के कथनो का परस्पर मिलान करके उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश्य का निर्णय किया जा सकता है। नाटक के प्रधान पात्रो के द्वारा ही नाटककार अपने उद्गार प्रस्तुत करता है। उन उद्गारो का चयन करके ही हमें किसी नाटक का उद्देश्य स्थिर करना चाहिए। भारत

के प्राचीन नाटको में सर्वाधिक जोर जीवन की व्याख्या पर ही दिया जाता है और सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श उपस्थित किए जाते हैं। 'साहित्य समाज का दर्पण है' इस उक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाटक के उच्चादर्श तत्कालीन समाज की उन्नति तथा दूषित नाटक नैतिक पतन के सूचक हैं। "नाटको का सबसे बडा उपयोग नैतिक उन्नति तथा समाज-कल्याण में होता है और नाटको के इसी उपयोग को ध्यान में रखकर नाटक लिखे जाने चाहिएँ।"

नाटको के भेद

नाटको के भेद तीन दृष्टियो से किए जा सकते हैं—विषय के विचार से, शैली के विचार से और रगमच के विचार से। विषय के विचार से नाटको के दो भेद हो सकते हैं—ऐतिहासिक (पौराणिक) और सामाजिक। ऐतिहासिक के दो रूप हैं। एक तो अष्टादश पुराणो में आये कथानको को लेकर नाटक लिखे गए हैं, जिनकी प्रचुर मात्रा सस्कृत नाटको मे या भारतेन्दु युग में हिन्दी में भी मिलती है। दूसरा रूप आधुनिक इतिहास के अर्थ मे है। जिस परम्परा मे नीलदेवी, महाराणा प्रताप एव स्वर्गीय जयशकर प्रसाद जी के प्राय सभी नाटक आते हैं। पौराणिक नाटको में सस्कृत परम्परा को अक्षुण्ण रखा जाता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वय ऐसे कई नाटक लिखे थे। द्विवेदी-युग में नाटको का कलेवर बदलने लगा। इसमें नवीनता आने लगी, बँगला और अग्रेजी साहित्य का भरपूर प्रभाव पडने लगा। 'प्रसाद' जी के नाटक अभिव्यजन-शैली और चरित्र-वैशिष्ठ्य की दृष्टि से प्राचीन नाटको से एकदम पृथक् दिखाई देते हैं। प्राचीन नाटको मे केवल रस पर ही ध्यान दिया जाता था पर नवीन शैली के नाटक शीलवैचित्र्य-प्रधान हैं।

सामाजिक नाटको के अन्तर्गत राजनैतिक, समाज-सुधार-सम्बन्धी, जन-समस्या-सम्बन्धी नाटक आते हैं। सर्वप्रथम इस दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने क्रान्ति की। उन्होने देखा कि देश और समाज की दशा ऐसी है, जिसमें जीवन नही है। प्राण फूंकने की दृष्टि से उन्होने ऐसे विषयो का चयन किया। राजनैतिक के अन्तर्गत देशप्रेम, जातिगत एकता, साम्पदायिक समस्या आदि हैं। समाज-सुधार-सम्बन्धी नाटको में विधवा-विवाह, बाल-वृद्ध-विवाह, वेश्यागमन-निषेध, मद्यपान-निषेध आदि हैं। जन-समस्या-सम्बन्धी नाटक रोमाचक प्रेम, अछूतोद्धार, हडताल, वर्गभेद आदि से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इस दिशा में रूसी उपन्यास लेखको के अनेक अनुवाद भी सहायक हुए हैं। कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गए जो न ऐतिहासिक कोटि में आते हैं, न सामाजिक। इन्हें 'अव्यवसित-

रूपक' कह सकते हैं। इनमें भावनाओ या प्रकृति के दृश्यो को व्यक्ति बना अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत को व्यक्त किया जाता है। सस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय', हिन्दी में 'कामना', 'एक घूंट', 'ज्योत्सना' और 'प्रवुद्धयामुन' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं।

रगमच की दृष्टि से भी नाटक के दो भेद किए जा सकते हैं—एक रगमच के अनुरूप या अभिनय-दृष्टि-प्रधान और दूसरे पाठ्य नाटक।

कुछ नाटक ऐसे होते हैं जो अभिनय की दृष्टि से ही लिखे जाते हैं। ऐसे नाटको में साहित्यिकता की बहुधा कमी रहती है। कुछ नाटक ऐसे लिखे जाते हैं जिनमें अभिनय की दृष्टि नही रखी जाती, केवल साहित्यिक दृष्टि से वे लिखे जाते हैं। ऐसे नाटको में लेखक की दृष्टि रगशाला के विधि-विधानो की ओर विशेष नही रहती। इसका यह अभिप्राय नही कि ये नाटक खेले ही नही जा सकते। हाँ, इनमें कुछ काट-छाँटकर अभिनय के अनुरूप इन्हे बना लिया जाता है। सस्कृत के प्रायः और हिन्दी के उच्चकोटि के नाटक पाठ्य की श्रेणी में ही आते हैं। इसका एक कारण और भी है। हिन्दी जगत में अपनी रगशाला न होने के कारण रगशाला के अनुरूप नाटक-निर्माण की सुविधा भी लेखको को नही है। 'प्रसाद' जी के प्राय सभी नाटक साहित्यिक दृष्टि से बडे ही ऊँचे हैं। पर उन्हे यथावत् नही अभिनीति किया जा सकता। एक कारण यह भी है कि वैसे उच्चकोटि के सुविज्ञ, विद्वान् पात्र भी उपलब्ध न होंगे। इसीलिए 'प्रसाद' जी के नाटक कुछ काट-छाँट कर ही अभिनीत हुए हैं। उस दशा में वे बडे ही सफल रहे हैं।

नाटकों की उत्पत्ति—इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में बहुत मतभेद है। यूनानी नाटको के विषय में पश्चिमी विद्वानों का मत है कि वहाँ मई मास में 'मे पोल' उत्सव में होने वाले नृत्य से क्रमश वहाँ नाटको की उत्पत्ति हुई। ऐसे ही भारत में 'इन्द्रध्वज' महोत्सव से नाटक की उत्पत्ति हुई। ऐसा पाश्चात्य विद्वानो का मत है। 'इन्द्रध्वज' महोत्सव नेपाल राज्य में अब भी मनाया जाता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'इन्द्रध्वज'[1] का उल्लेख मिलता है। नाटक में नृत्य के साथ भावाभिनय भी होता है। अत 'मे पोल' की तरह 'इन्द्रध्वज' महोत्सव से नाटक की उत्पत्ति असगत जान पडती हैं।

१—अयं ध्वजमह' श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥

—नाट्यशास्त्र

यूनानी नाटको की उत्पत्ति के विषय में डॉ० रिजवे यह मानते हैं कि वीर-पूजा से उनकी उत्पत्ति हुई। मृत वीरो के शव सुरक्षित रखे जाते थे और उनके श्राद्ध के दिन उनकी वीरतापूर्ण जीविनी का प्रदर्शन होता था। उसी परम्परा को भारत में रामलीला और कृष्णलीला के साथ जोडकर यह निष्कर्ष निकला है कि ये लीलाएँ भी वीरपूजा का ध्वसावशेष हैं और भारत में भी वीरपूजा से ही नाटको की उत्पत्ति हुई।

डॉ० कीथ ने ऋतु-परिवर्तन के समय होने वाले उत्सवो, नृत्यगान से नाटको की उत्पत्ति मानी है। और पतजलि के महाभाष्य मे उल्लिखित 'कसवध' नामक नाटक का प्रमाण भी दिया है। उस नाटक में कस और उसके अनुयायी नीलवर्ण वस्त्र धारण किए दिखाये गए हैं किन्तु कृष्ण और उनके अनुयायी रक्त-वर्ण के वस्त्र। इसका तात्पर्य शिशिर-ऋतु पर ग्रीष्म-ऋतु की विजय सिद्ध कराना है। पर यह मत सर्वमान्य न हो सका।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् पिशेल साहब ने कठपुतली के नाच से नाटको की उत्पत्ति मानी है और भारतवर्ष से ही सारे देशो में नाटक का प्रचार हुआ—ऐसी उनकी मान्यता है। कठपुतली के नाच में सूत्रधार और स्थापक दो शब्द ऐसे आते हैं जो इस मत की पुष्टि में सहायक होते हैं। नचाने वाला सूत्र (डोरा) धारण कर पुतलियो को नचाता है और नाच के बाद एक तरफ स्थापित कर देता है। इस आधार पर सूत्रधार और स्थापक दोनो शब्द आते हैं। नाटको में दोनो शब्द ज्यो के त्यो लिए गए हैं। डॉ पिशेल ने छाया-नाटको से भी नाटको की उत्पत्ति मानी है और जिसका प्रसिद्ध उदाहरण 'दूतागद' है।

कुछ विद्वानो ने नाट्य-विद्या का ग्रहण भी यूनानी नाट्यकला से माना है। इसके प्रमाण मे वे 'यवनिका' शब्द उपस्थित करते हैं। और ऐसा मानते हैं कि 'यवनिका' शब्द 'यवन' से निकला है। इस विषय में इतना ही कहना है कि सस्कृत नाटको में 'जवनिका' शब्द का व्यवहार होता था, जिसका अर्थ है पट (पर्दा) ढकने वाला। प्राय पटाक्षेप शब्द का ही व्यवहार मिलता है। यवनिका का प्रयोग हिन्दी के नाटको मे हुआ है। इसका अर्थ इतना ही लिया जा सकता है कि यूनानी ढग के पर्दे बने होगे। पर इतिहास तो यह भी बतलाता है कि यूनान मे नाटक मैदान मे हुआ करते थे। आज से ४००० वर्ष पूर्व पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कृशाश्व और शिलाली नामक नाट्य-सूत्रकारो का नाम गिनाया है। 'प्रसाद' जी ने जवनिका की व्याख्या इस प्रकार की है—'जव' अर्थात् वेग, वेग से झटिति जो पट उठे और गिरे उसे जवनिका कहेगे। यह व्युत्पत्ति सगत और हृदय-ग्राह्य है। पुरातत्त्व विभाग की ओर से कई स्थानो पर खुदाई में ऐसे भवन तथा

कक्ष मिले हैं, जिनसे स्पष्ट सिद्ध हो चुका है कि आज से हज़ारो वर्ष पहले भी भारतवर्ष में नाटक खेले जाते थे।

नाटको में त्रासद (दु खान्त) और हासद (सुखान्त) का भेद किया जाता है। भारतीय आचार्यों ने दु खान्त नाटको का निषेध किया है। यो आजकल हिन्दी में बहुत से नाटको में दुःखान्त वर्णन प्रदर्शित किए जाते हैं। पर इसका अभिप्राय यह है कि जिस नाटक में नायक या किसी प्रिय पात्र का दु.खद अन्त हो, उसे ही दु खान्त माना जा सकता है। नाटक में प्रतिनायक या कोई अधम या खलनायक, नाटक की फल-प्राप्ति में बाधा पहुँचाता है तो सामाजिक दुःखी होते हैं, पर, जब नायक फल-प्राप्ति में सफल हो जाता है तो सामाजिको के आनन्द का ठिकाना नही रहता, तब उसे सुखान्त कहा जाता है। कभी-कभी नायक जब निज फल-प्राप्ति मे सफल नही होता या नायक या नायिका की मृत्यु हो जाए तो उसे दुःखान्त कहा जा सकता है। जैसे 'जयद्रथ-वध' या 'उरुभग' नाटको में जयद्रथ के वध या दुर्योधन की जाँघ टूटने का दु खद दृश्य देखने पर भी सामाजिक प्रसन्न होते हैं। इसका प्रधान कारण पात्र विशेष के प्रति अनुराग है। अभिमन्यु के वध मे जयद्रथ का विशेष योग था। अतः जयद्रथ सामाजिको की दृष्टि मे वध्य माना गया। दुर्योधन के अत्याचार के कारण जनता पाण्डवो की समर्थक हो गई। प्राचीन नाटको मे सुखान्त-दु खान्त का कोई प्रश्न ही नही था। भारत तो सदा आदर्श का पुजारी रहा है। यहाँ अपने आदर्श चरित-नायक का अन्त सदा वर्जित है। हमारे यहाँ सत्य, शिव सुन्दर की सदा प्रतिष्ठा रही है। नाटक के अन्त में उपदेश, सात्विक मनोरजन ही नाटककार का उद्देश्य रहता है। अन्त में नाटक की समाप्ति पर 'भरत वाक्य' का विधान है, जिसमें जनता के कल्याण, भूमि को शस्य-श्यामला देखने की इच्छा तथा राजा की कल्याण-कामना की जाती है। ऐसी स्थिति में दुखान्त का प्रश्न ही कहाँ ?

अब पाश्चात्य विद्वान् भी नाटको की उत्पत्ति वेद के सवाद-सूक्तो से मानने लगे हैं। प्रसिद्ध विद्वान् श्रोडर का मत है कि वैदिक काल के पूर्व नृत्य, गीत और वाद्य का जो सयोग था, उसी के प्रभाव से वैदिक ऋषि प्रभावित हुए और उनके मन्त्रो में सवाद रूप से गायन और नर्त्तन का समावेश हुआ। वैदिक सोम-यज्ञ में सोम-क्रेता और विक्रेता के रूप में ऋत्विज आते थे और अभिनय करते थे। धीरे-धीरे उसी से नाटको का विकास हुआ होगा। प्राचीन आचार्यों का मत है कि शिव ही नाटक के जन्मदाता हैं। इसीलिए शिव को नटराज और नटेश कहते हैं। दक्षिण भारत मे प्रायः शिव की मूर्तियाँ अभिनय की मुद्रा में ही पाई जाती हैं। पुरातत्त्व-विभाग की खुदाई में शिव की अनेक मूर्त्तियाँ अनेक भाव-भगिमाओ और

अभिनय की मुद्रओ में मिली हैं। शिव ने ब्रह्मा को और ब्रह्मा ने भरत मुनि को नाट्य-विद्या का ज्ञान दिया। भरत मुनि ने मर्त्यलोक में इसका ज्ञान दिया। भारतीय प्रत्येक कार्य धर्मानुप्राणित होता है। नाट्य की उत्पत्ति दिव्य-उत्पत्ति है। भारत के विभिन्न प्रान्तो में त्योहारो और उत्सवो में स्वाग रचकर उसी प्राचीन कला का दिग्दर्शन कराया जाता है और सभव है इन स्वागो और नृत्य-गीतो का ही परिष्कृत रूप नाटक बना हो। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'नाटक' को 'पचमवेद' माना गाया है और लिखा है कि जब काम और लोभ से प्रेरित होकर लोग अनाचार में निमग्न हो गए और ईर्ष्या-क्रोध के कारण सुख-दु ख का विशेष अनुभव करने लगे तब इद्रादि देव ब्रह्मा के पास गए और उनसे निवेदन किया कि एक ऐसा दृश्य उपस्थित कीजिए जिससे आँख और कान दोनो को आनन्द मिल सके। वैदिक उपदेश रूक्ष हैं, सभी उसका आनन्द नही ले पाते। ऐसी प्रार्थना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने चारो वेदो का स्मरण कर धर्म, अर्थ और यश को देने वाले इतिहास और उपदेश से युक्त, लोगो को लोक-व्यवहार का आदर्श सिखाने के लिए 'नाट्य' नामक वेद की रचना की, जिससे जो वेदाध्ययन के अधिकारी नही हैं[1] उनके सहित सारे समाज को वेदो का-सा आनन्द प्राप्त हो सके। सभी शास्त्रो का निचोड लिया गया, जिसमे सभी शिल्पो का प्रदर्शन किया गया। चारो वेदो से पृथक्-पृथक् उपादान लेकर इसका निर्माण किया गया। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर चार तत्त्वो से इसका निर्माण किया गया।[2] भरत मुनि के कथन से स्पष्ट है कि नाटको का उद्भव वेद-मूलक है। भारतीय प्रत्येक कार्य में लोक-कल्याण की भावना को प्रधानता देते हैं।

प्रेक्षागृह—रूप-कथा का रगशाला से अभिन्न सम्बन्ध है। नाटको की उन्नति और अवनति का प्रभाव रगशाला की उन्नति और अवनति पर पडता है। अर्थात् जब नाटको की उन्नत अवस्था थी तो रगशालाएँ भी उत्तम दशा में थी और नाटको के ह्रास के साथ ही रगशालाओ का भी लोप हुआ। बडे नाटको अर्थात् पात्र-बहुल नाटको के लिए बडी रगशाला अपेक्षित है। कुछ कम पात्रो वाले नाटको के लिए मध्यम रगशाला तथा थोडे पात्रो वाले नाटको के लिए लघु रग-

---

१—न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्य शूद्रजातिषु,
तस्मात्सृजापरं वेद पंचमं सर्ववार्णिकम्। —नाट्य शास्त्र

२—जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च,
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। —नाट्य शास्त्र

शाला । आजकल के वैज्ञानिक युग की तरह ध्वनि-विस्तारक यत्र तथा विद्युत्प्र-
काश की सुविधा तो थी नही कि जिससे उनकी रचना बहुत विस्तृत की जासके,
फिर भी उनकी रचना वैज्ञानिक लगती है। रगशालाएँ तीन प्रकार की मानी
गई हैं—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र । विकृष्ट रगशाला सर्वश्रेष्ठ मानी गई है ।
इसकी लम्बाई १०८ हाथ होती थी । चतुरस्र मध्यम कोटि की थी । इसकी लम्बाई
चौडाई ६४ × ३२ हाथ होती थी । ये दोनो रगशालाएँ आयताकार होती थी ।
त्र्यस्र रगशाला साधारण कोटि की होती थी । यह त्रिभुजाकार होती थी । चतु-
रस्र रगशाला राजाओ, धनिको तथा सर्व साधारण के लिए होती थी । त्र्यस्र में
केवल घनिष्ट मित्र और परिचित लोग ही सम्मिलित होते थे । रगशाला का
आधा भाग दर्शको के लिए और आधा अभिनय तथा पात्रो के लिए नियत रहता
था । रगमच का सबसे पिछला भाग रगशीर्ष कहलाता था । यह छ खम्भो पर
निर्मित होता था और इसमें नाटक के अधिष्ठातृ देवता का पूजन होता था ।
रगमच के दो खण्ड होते थे । ऊपर के खण्ड में स्वर्ग के दृश्य दिखाये जाते थे
और निचले में मृत्युलोक के । रगशीर्ष के बाद रगपीठ होता था, जिसे सभवत
नेपथ्यगृह कहते थे । रगपीठ से आधे हाथ की ऊँचाई पर मत्तवारिणी (बरामदा)
होता था जिस पर अभिनेता विश्राम करते थे । नेपथ्यगृह में जाने के लिए दो द्वार
होते थे । रगमच की दीवालो पर उत्तम चित्रकारी तथा वायु और प्रकाश के
झरोखे होते थे। नाट्यमडप ग्रहाकार होता था, जिससे अभिनेताओ की ध्वनि गूँजे।
भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के अनुकूल बनी हुई एक रगशाला सरगूजे (मध्य
प्रदेश) में मिली है, जो किसी देवदासी की बनवाई हुई है। उससे प्रमाणित होता
है कि मध्यकाल में नाटको का अभिनय होता था और रगशालाएँ निर्मित थी ।
हिन्दी के पुराने नाटक जिन रगशालाओ में खेले गये, उनका सघटन नए प्रकार
का था और वे पारसी अल्फ्रेड कम्पनियो के तत्वावधान में थी । हिन्दी के अभि-
नय योग्य नाटक इसी प्रकार के रगमच पर खेले जाते हैं। भरत मुनि के वर्णित
नियमानुसार आधुनिक आवश्यकताओ का ग्रहण करते हुए यदि रगमच बने तो
उससे बहुत-कुछ सुविधा मिल सकती है। और 'प्रसाद' जी के नाटक सफलता-
पूर्वक अभिनीत हो सकते हैं। भारत सरकार दिल्ली आदि नगरो में नाट्य-
शालाएँ बनवा रही है। देखें वे कहा तक अभिनय में योगदान देती हैं।

चलचित्र

जब से चलचित्रो का प्रचार व प्रसार हुआ, तब से जनता के
मनोरजन के साधन अधिकतर ये ही होने लगे। नाटको में अर्थ-व्यय अधिक
होता है। चल-चित्रो (सिनेमा) में थोडे पैसे खर्च कर मनोरजन किया जा

सकता है। जबतक मूक-चित्रो का ही प्रचार था, तबतक नाटको की विशेष क्षति नही हुई। व्यापारिक या अव्यापारिक नाट्य सस्थाओ द्वारा नाटक खेले जाते रहे। अव्यापारिक सस्थाएँ कभी-कभी साहित्यिक नाटको का प्रदर्शन भी किया करती थी। किन्तु इधर सवाक् चलचित्रो के प्रसार से कई व्यापारिक नाट्य सस्थाएँ टूट चुकी हैं। अव्यापारिक नाट्य-सस्थाएँ भी नाट्य-प्रदर्शन बहुत कम कर रही हैं। चलचित्रो मे एक बार का बनाया गया चित्रपट अनेक स्थानो पर अनेक बार दिखाया जा सकता है। पर नाटक के लिए बहुत दिनो की तैयारी करने के बाद एक बार में एक ही स्थान पर दिखाया जा सकता है। साथ ही बहुत व्यय-साध्य है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या सवाक् चलचित्रो के प्रसार से साक्षात् नाट्य-प्रदर्शन एकदम रुक जाएगा। जीवन की सकुलता बढ जाने से मनोरजन के सुलभ साधन की आवश्यकता ससार के समस्त देशो में उठ खडी हुई है। दर्शको की दृष्टि से साक्षात् नाटकाभिनय अधिक द्रव्य-साध्य है ही, अत धीरे-धीरे सभी देशो में उसका ह्रास होने लगा है।

विज्ञान की चरमोन्नति से सिनेमा के अनेक चित्र प्रेताकार दिखाई देते हैं, उनसे साधारण विद्या-बुद्धि के लोगो का भले ही मनोरजन हो जाए, किन्तु साहित्य की अभिरुचि रखने वालो का पूर्ण सन्तोष उनसे नहीं हो सकता। भारतीय नाट्य-शास्त्रो में नाटको का लक्ष्य रस-सचार माना गया है। सिनेमा में नाटको की अपेक्षा रस-सचार कम होता है। इसलिए नाटकाभिनय के अवलोकन की लिप्सा काव्याभिरुची-सम्पन्न लोगो में अवश्य बनी रहेगी। इसलिए यह विश्वास किया जा सकता है कि सिनेमा का चाहे जितना प्रसार या या विकास हो, नाटकाभिनय का सर्वथा लोप नही हो सकता। साहित्यिक नाटको का निर्माण अभिनय की दृष्टि से भले ही न हो, सवाद-शैली की विशेषता की दृष्टि से निरन्तर होता रहेगा।

आठवाँ अध्याय

रंगमंचीय नाटक

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारे देश में राजनीतिक नवचेतना के साथ-साथ ही साहित्यिक उद्बुद्धता का भी दर्शन होने लगा। उस काल में नव-जागरण का ऐसा प्रचड झझावात उठा कि उसने हमारे साहित्योद्यान के कितने ही पुरातन वृक्षो का मूलोच्छेदन कर दिया, और कितनो की शाखायें तोड डाली। साहित्योद्यान का सरक्षक निद्रा से जगने पर विस्मय-विमुग्ध रह गया। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्रेजी शिक्षा और सस्कृति के प्रभाव से हमारी कितनी सामाजिक मान्यताये उखाडकर फेंक दी गई, कितनी पूंजीभूत साहित्यिक रूढियाँ अस्त-व्यस्त हो गई। हमारे देश में जीवन का ढाँचा बदलने लगा। नवीन शिक्षा-पद्धति ने जीवन में नवीनता लाने को बाध्य किया। इसका प्रभाव साहित्य पर पडना अनिवार्य था। सामान्य रीति से साहित्य का प्रत्येक अग इससे प्रभावित हुआ किन्तु नाटक का जीवन से अटूट सम्बन्ध होने से— सबसे अधिक प्रभाव नाट्य-साहित्य पर पडा।

केवल हिन्दी ही नही, देश की प्राय सभी विकासोन्मुख भारतीय भाषाओ के नाट्य साहित्य ने अपनेको इस परिवर्तित युग के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। अग्रेजी नाटको, नाटककारो और आलोचको ने हमारी अडिग नाट्य-परम्पराओ को भी उच्छिन्न कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भरत मुनि की उपेक्षा करके प्राय प्रत्येक देशी भाषा में दु.खान्त नाटको का सृजन होने लगा। प्रेम-पद्धति ने नया मार्ग पकडा। उन्मुक्त प्रेम को प्रोत्साहन मिलने लगा। देशोद्धार के लिए आवश्यक उपकरण जुटाने एव प्रोत्साहन देने के लिए नाटककार कमर कसकर प्रस्तुत हो गए। नाटक की एक नई परम्परा चल पडी, जिसपर अग्रेजी नाट्यशास्त्र का गहरा प्रभाव पडा।

आज दिन वीसवी शताब्दी के हिन्दी नाटको की नई मान्यताओ को पूर्ण रीति से समझने के लिए अग्रेजी नाट्य-शास्त्र का सामान्य परिचय आवश्यक हो गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र का उल्लेख हम पूर्व कर आए हैं किन्तु नवीन नाटक-शैली के परीक्षण के लिए नाट्यशास्त्र की मान्यताएँ पुरानी पड जाने के कारण

अपर्याप्त हो गई हैं। अतएव अंग्रेजी नाट्यशास्त्र पर भी विचार कर लेना आवश्यक हो गया है।

भरतमुनि और अरिस्टाटल

जिस प्रकार हमारे देश मे भरतमुनि नाट्यशास्त्र के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं, उसी प्रकार योरुप मे नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य अरिस्टाटल हुए हैं। दोनो आचार्यो ने अपनी साहित्यिक परम्परा और जातीय विचारधारा का परीक्षण करके नाटक के कतिपय सिद्धान्त निर्धारित किए। उन दोनों के सिद्धान्तो का तुलनात्मक अध्ययन करने से हमे पाश्चात्य और पौर्वात्य नाटको की विशेपताएँ स्पष्ट हो जायँगी।

हम कह आए हैं कि भरत मुनि ने भारतीय नाटको मे रस की बडी महत्ता सिद्ध की है। वह नाट्यशास्त्र में विवेचना करते-करते श्रेष्ठ नाटक के विषय मे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जिसमे कोमल ललित पद और अर्थ हो, गूढ शब्दार्थ रहित हो, जो विद्वानो को सुख देने योग्य हो, बुद्धिमान उसे खेल सके, अनेक रसो के लिए अवकाश हो, सब सन्धियो के जोड ठीक हो, वही प्रदर्शन के लिए श्रेष्ठ नाटक होता है।"[1]

अरिस्टाटल का मत इससे कुछ-कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि "ट्रेजडी उस कार्य विशेप का अनुसरण है, जिसमें गम्भीरता के साथ आकार की स्वत पूर्णता हो और जो सब प्रकार के प्रसन्नतोत्पादक उपकरणो से अलकृत भाषा में व्यक्त हो और जिसकी रचना नाटकीय ढग से की गई हो, न कि प्रकथन या विवरण के रूप मे की गई हो। इसमें ऐसी घटनाएँ रहती हैं जो करुणा और भय को जाग्रत कर उन भावो का रेचन या विकास कर देती हैं।"[2]

१—मृदुललित पदार्थं गूढशब्दार्थहीनं,
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्त योग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्,
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, १२४

2—A Tragedy, then is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language, with pleasurable accessaries, each kind brought in separately in the parts of the work, in a dramatic not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions

—Aristotle

दोनो लक्षणो की तुलना करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारतीय और पाश्चात्य नाट्यशास्त्रो का नाटक के लक्ष्य के सम्बन्ध में मतैक्य नही। जहाँ भरत मुनि अनेक रसो से समन्वित काव्य को नाटक कहते हैं, वहाँ अरिस्टाटल भावो के रेचन पर बल देते हैं। दोनो का दृष्टिकोण भिन्न है भारतीय नाटक का साध्य रस है; साधन है सवाद, सगीत और अभिनय, निमित्त हैं नट, भोक्ता हैं दर्शक, आधार है कथा, और इन सबका सयोग करने वाले हैं नाटककार और नाट्यप्रयोक्ता।

आज दिन नाट्य-प्रयोग की पद्धति बदली हुई है। मध्ययुग मे नाटको का अभिनय खुले मैदान मे किसी ऊँचे स्थान पर हो जाता था। किन्तु अब विजली के प्रभाव से रगमच पर अनेक प्रकार के साधनो द्वारा सामान्य रचना को भी हृदयग्राही बना दिया जाता है। आज का नट नाटककार के सदृश ही यशस्वी कलाकार माना जाता है। वह दु खान्त नाटको को भी मनोरम बना देता है।

दु खान्त नाटक

दु खान्त नाटक की आत्मा के सम्बन्ध में आलोचको का प्रतिनिधित्व करते हुए पटेनहम महोदय लिखते हैं कि "दुखान्त नाटक आपदाग्रस्त और भाग्यहीन राजकुमारो की दुखभरी गाथा सुनाता है, इसका उद्देश्य मनुष्य को भाग्य के अनसुने परिवर्तन और अनीतिमय जीवन को भगवान की न्यायपूर्ण सजा का स्मरण दिलाना है।"[1]

विषयगत भिन्नता के कारण दु.खान्त नाटक के तीन भेद माने गए हैं—

(१) साहसिक दुखान्त नाटक (Heroic tragedy)

(२) आतकपूर्ण दुखान्त नाटक (Horror tragedy)

(३) पारिवारिक दुखान्त नाटक (Domestic tragedy)

१. साहसिक दुखान्त नाटक—इसमें नायक की किसी एक उत्कट महत्त्वाकाक्षा का रोमाचकारी प्रदर्शन होता है, जिसे प्राप्त करने में नायक असफल रहता है और विनाश को प्राप्त होता है। इसमें नाटककार का उद्देश्य भव्यता

1—"Tragedy deals with the doleful falls of princes, reminding men of the mutability of fortune and God's just punishment of vicious life"

—Puttenham.

का प्रभाव डालना होता है। इसमे नायक के अन्तर्भूत द्वन्द्व [मनोवेग-विशेषकर प्रेम सम्बन्धी] और बुद्धि कर्त्तव्य सम्बन्धी ही उसे उलझाकर मार डालते हैं। वाह्य परिस्थितिया उसके लिए घातक नही बनती।

यहाँ नायक की बलशीलता पर इतना अधिक बल दिया जाता है कि वह हास्यास्पद लगने लगता है, उसके मुख से इतने उत्तेजनापूर्ण शब्द कहलाए जाते हैं कि वह अस्वाभाविक प्रतीत होने लगता है और हम पर अपनी सत्यता का प्रभाव नही डाल सकता।

आतकपूर्ण दुखान्त नाटक (Horror Tragedy) इसमें कथानक का वस्तु-जगत और भाव-जगत दोनो भयकारी दृश्यो से आपूर्ण रहते हैं तथा दर्शक के मन में आतक का स्पन्दन बना रहता है। फिर भी आतककारी वाह्य जगत के दृश्यो का ही अधिक समावेश होता है, विविध आतककारी अवस्थाओ और परिस्थितियो का ही बाहुल्य रहता है। यद्यपि इसमें अन्तर्जगत के द्वन्द्व भी नायक को विनाश के पथ पर ले जाने में सहायक होते हैं परन्तु वाह्य जगत से उसका सघर्ष अन्तर्जगत की अपेक्षा अधिक विकट होता है।

पारिवारिक दुखान्त-नाटक (Domestic Tragedy) इसमें आर्थिक विषमता से उत्पन्न सघर्षो को दर्शाया जाता है। इसमे आतक की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। इसमें नाटक का अन्त दो प्रकार से होता है—(१) जिसमें उलझन अधिक विकट होती है और दृश्य भयकारी होते हैं तथा अन्त मृत्यु से होता है। (२) जिसमें दुखान्त नाटक की आत्मा तो व्याप्त रहती है पर अन्त सुखात्मक होता है।

अतिदुखान्त नाटक (Melodrama) दुखान्त नाटक जब अपने मुख्य आदर्शो [चरित्र-चित्रण और वास्तविक दुखान्त भावना (true tragic spirit)] से विमुख हो केवल प्रभावात्मक दृश्यो के प्रदर्शन में ही लग जाता है तो उसे अति दुखान्त नाटक कहते हैं। इनमें केवल आकर्षक दुखान्त घटनाओ पर बल दिया जाता है और श्रेष्ठ दुखान्त की वास्तविक अन्तरात्मा का निर्वाह इनमे नहीं किया जाता। नाटक की कथा अस्वाभाविक होती है और नृत्य और अस्वाभाविक दृश्यो मे भरी रहती है। इसके घटना-चक्र अस्वाभाविक होने के कारण दर्शक के अन्तःकरण पर कोई स्थाई प्रभाव नही डालते। इनमे केवल क्षणिक स्पन्दन पैदा करने वाले दृश्यो का ही बाहुल्य रहता है। इनसे केवल हमारी स्थूल इन्द्रियो का ही विनोद होता है। श्रेष्ठ दुखान्त नाटक से हमारे सूक्ष्म मन का विनोद

होता हैं। श्रेष्ठ दुखान्त मे आदर्श की झलक रहती है, अति दुखान्तक का कोई आदर्श नही होता।

सुखान्त नाटक

यदि दुखान्त नाटक का अन्त नायक की मृत्यु से होता है तो सुखान्त नाटक का अन्त नायक के फलने-फूलने, उसके उत्थान, ऋद्धि-समृद्धि और हर्ष-आनन्द की वृद्धि से होता है। यदि दुखान्त नाटक मे नायक के परिवार, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी सभी आपदा-ग्रस्त हो प्राणो की तिलाजलि दे देते हैं तो सुखान्त नाटक में वे लोग नायक के साथ-साथ नये आनन्दमय जीवन में प्रवेश करते हैं। दु खान्त में पाया हुआ भी राज्य-वैभव खो जाता है, सुखान्त में खोया हुआ भी मिल जाता है। चिर साथ रहने वाली प्रेमिका विपत्ति के प्रहारो से विचलित हो कर हुई सदा के लिए साथ छोड देती है, तो सुखान्त नाटक में नायक का अप्रत्याशित और आशातीत अपूर्व नायिका के साथ मिलन होता है। सार यह है कि दु.खान्त नाटक जीवन से निवृत्ति देता है, सुखान्त-नाटक जीवन में प्रवृत्ति। दु खान्त की परिणति दु.ख मे होती है, सुखान्त की सुख में।

भारतीय नाटकीय परम्परा नाटक को दु खान्त नही होने देती। नायक के जीवन में कितनी भी विपत्तियाँ आये पर नाटककार उसे प्रायः अन्त में सुखी और समृद्ध बना ही देता है। यूरोप मे भी चौथी शताब्दी से ही सुखान्त नाटक की परम्परा चली आ रही है। विभिन्न युगो में विभिन्न शैलियो मे सुखान्त नाटक लिखे गए हैं। इसलिए प्रत्येक युग में इसके नए-नए भेद-प्रभेद होते गए हैं। सपूर्ण सुखान्त नाटको का वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं।

(१) उदात्त सुखान्त-नाटक (High comedy)

यह सु खान्त नाटक उसी प्रकार गभीर और भावपूर्ण होता है जिस प्रकार दुखान्त-नाटक। इसमें भी कथावस्तु, चरित्र-चित्रण वार्तालाप मे उदात्त भाव पिरोये जाते हैं, पर इनका निर्वाह कोमलता और सरसता के साथ होता है। यही दोनो में अन्तर है। पाठक का हृदय और मस्तिष्क बोझिल नही मालूम पडता जैसा कि दु खान्तकी में प्राय हो जाया करता है।

(२) प्रहसन (Farce)

इस सुखान्त नाटक में हास्य की प्रधानता होती है। नाटककार ऐसी परि-स्थितियाँ उत्पन्न कर देता है, ऐसे चरित्रो का निर्माण करता है, जिन से पाठक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। इसमें गाभीर्य के लिए प्राय स्थान नही। यदि कही-कही आता भी है तो वह हास्य का कारण बन जाता है। इसके लिए

नाटककार अतिनाटकीय तत्त्वो का विधान करता है। विदूषक का अभिनय प्रधानतया हास्य की सृष्टि करता है। वह किसी भी पात्र का मज़ाक उडाए विना नही रहता। शेक्सपियर के 'ट्वेल्वथ नाइट' में यह तत्त्व पर्याप्त रूप में पाया जाता है। इससे भी अधिक प्रहसन-तत्त्व 'टेमिग आफ दि श्र्यू' और 'मेरी वाइव्स ऑफ दि विन्ड्सर' में विद्यमान हैं।

(३) रोमास सुखान्त-नाटक (Romantic Comedy)

यह शेक्सपियर द्वारा प्रवर्तित सुखान्त नाटक की विशिष्ट विधा है। इसमें कल्पना का पुट अधिक रहता है। इसके वाद प्रेम और साहस (Adventure) का योग रहता है। सारी कथावस्तु प्रेम की कई कहानियो से निर्मित होती है। सहसा नायक-नायिका के जीवन मे सकट आते हैं, जिन्हे वे स्नेह और साहस से हँसते-हँसते झेल लेते हैं। अन्त में विवाह-सुख-समृद्धि से फलने-फूलने लगते हैं। इस विधा के मुख्य उदाहरण शेक्सपीयर के 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम', 'ट्वेल्वथ नाइट', 'मच ऐडो एवाउट नथिंग', 'ऐज़ यू लाइक इट' आदि रचनाये हैं।

(४) व्यग्य सुखान्त-नाटक (Comedy of Humours or Satire)

वेन जॉन्सन इस सुखान्तकी के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इस नाटक में मनुष्यो की विभिन्न चरित्र-गत कमियो पर व्यग्य कस कर उनमें सुधार लाने का प्रयत्न किया जाता है। व्यक्तिगत चरित्र-दोष समाज और व्यक्ति दोनो के लिए हानिकर होते हैं। शेक्सपियर की 'रोमास कामेडी' का घोर विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि सुखान्तकी का उद्देश्य केवल रास-रग और हास-विलास नही। सुखान्तकी का प्रयोग सामाजिक उत्थान के लिए होना चाहिए। इसके उदाहरण 'रैल्फ रायस्टर डायस्टर' और 'एव्री मैन इन हिज़ ह्यूमर' हैं।

सुखान्त नाटक की इन विधाओ के अतिरिक्त अंग्रेजी में अन्य विधाये भी हैं। जैसे 'कामेडी ऑफ मैनर्स', 'जेन्टील कामेडी' और 'सेन्टीमेन्टल कामेडी' पर भारतीय साहित्य में अलग रूप से ऐसी विधाएँ प्रचलित नहीं। ये सुखान्त नाटक इंग्लैण्ड मे सत्रहवी और अट्ठारहवी शताब्दि मे विशेष रूप से लिखे गए। इनका मुख्य उद्देश्य समाज की कुरीतियो पर प्रहार तथा उनका परिष्कार करना था।

नाटक के तत्त्व

अरस्तू के अनुसार प्रत्येक कमेडी में ६ तत्त्व होते हैं—१ इतिवृत्त, २ आकार, ३ विचार, ४ वर्णन-शैली, ५ छन्द, ६ गीत। अरस्तू ने प्रथम

दो अर्थात् इतिवृत्त और आचार अनुकरण के साधन बताये हैं। विचार अनुकरण के ढग को सूचित करता है। वर्णनशैली, दृश्य और गीत अनुकरण के आधार हैं।

इतिवृत्त

अरस्तू के मत से कमेडी की आत्मा इतिवृत्त है। इसे सर्वांगपूर्ण होना चाहिए। इसके निर्माण मे ६ मुख्य अवस्थाये मानी जाती हैं—(१) सूत्र-पात या परिस्थिति (Exposition), (२) सघर्ष की वृद्धि (Rising actoin or growth), (३) चरम सीमा (climax),(४) ह्रास,(Falling-action) (५) अवसान या पतन (catastrophe denouement), (६) पतन-शान्ति (conclusion)।

[सस्कृत के आचार्यों ने इसको अपनी शैली में कार्यावस्था का नाम दिया है, जिसका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है।]

" इतिवृत्त के निर्माण में सबसे अधिक ध्यान कार्य के एकत्व (unity of action) की ओर रहता है। इसमें कथानक के विभिन्न अगो को इस प्रकार ग्रथित करना होता है कि एक प्रसग को हटाने से सम्पूर्ण ढाँचा बिखर जाए। इसकी रचना में कवि केवल वास्तविक घटनाओ का ही वर्णन नही करता वरन् वे घटनायें भी इसमे सम्मिलित करता है, जिनकी सम्भावना भी हो सकती है। अर्थात् जो सम्भावना और आवश्यकता के नियमो के अनुसार सम्भाव्य हो।

कामेडी मे भय और करुणा का सचार करनेवाली घटनाओ को समाविष्ट करना अत्यावश्यक है। कारण यह है कि भय और करुणा का सचार पाठक या श्रोता के मन में तभी होगा जब घटनायें किसी प्रकार की विलक्षणता का दर्शन करायेंगी। विलक्षणता के उद्भव के लिए इतिवृत्त में ऐसा तारतम्य उप-स्थित करना होता है कि कोई घटना दैवयोग से उत्पन्न, आकस्मिक अथवा तर्करहित न प्रतीत हो।

सघर्ष (Conflict)

नाटक के कथा-व्यापार के निर्माण में 'सघर्ष' अत्यन्त मौलिक तत्त्व माना जाता है। इसे कन्ट्रास्ट, स्ट्रगल अथवा अपोजिशन नाम से भिन्न-भिन्न आलोचको ने पुकारा है। वाह्य सघर्ष तभी परिलक्षित होता है जब दो विरोधी शक्तियाँ आपस में टक्कर लेती हुई पाठक या दर्शक के भावात्मक प्रवाह को सतत एक दिशा में वहाने में समर्थ होती हैं। दूसरा आन्तरिक सघर्ष कहलाता है, जो

मुख्यतया 'विश्वास और शान्ति' का द्वन्द्व बन जाता है।

प्रतिकथानक (Counter Plot)

कभी-कभी सघर्ष को जटिल बनाने के लिए एक प्रतिकथानक और जोड दिया जाता है। इस प्रकार दूसरे स्तर पर सघर्ष प्रारम्भ हो जाने से पहिले सघर्ष की जटिलता मे वृद्धि हो जाती है।

सयोग (Coincidence)

सघर्ष को परिपूर्णता की ओर ले जाने के लिए कभी-कभी सिद्धहस्त नाटककार सयोग की भी योजना करते हैं। "सयोग ऐसी घटना को कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में शका-युक्त भावना रहती है कि ऐसा भी हो सकता है।" एक आलोचक का मत है कि "The Poet should choose what is impossible but likely, in prefernce to what is possible but incredible। कवि को घटना-सृष्टि में इस सामान्य सिद्धान्त को स्मरण रखना चाहिए कि "अविश्वनीय सम्भव से विश्वसनीय असम्भव" नाटक के लिए विशेष उपयुक्त है। शकुन्तला नाटक में दुर्वासा ऋषि के शाप से शकुन्तला का विस्मृत हो जाना विश्वसनीय असम्भव ही है। ओथेलो नाटक में डेसडेमोना के हाथ से रूमाल का गिर जाना और उसके कारण नाटक की सुखमयी घटना-धारा का नया मोड लेना, इसी सयोग के अन्तर्गत माना जाता है। ऐसी घटनाओ मे तर्क कहता है यह हो नहीं सकता, किन्तु कल्पना कहती है कि इसकी सम्भावना है।

अन्तर्द्वन्द्व (conflict)

मानव-हृदय में दो विरोधी प्रवृत्तियो में सदा से युद्ध होता आया है। यह युद्ध बाह्य युद्ध से अधिक भीषण और परिणामप्रद होता है। जिस नाटक में यह अन्तर्द्वन्द्व जितना ही स्वाभाविक होगा, वह नाटक उतना ही उत्कृष्ट होगा। यह अन्तर्द्वन्द्व सदा पाप-पुण्य या धर्म-अधर्म अर्थात् सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति के ही मध्य नहीं छिड़ता, सत्प्रवृत्तियो में भी कभी-कभी यह द्वन्द्व-युद्ध होने लगता है। उत्तररामचरित नाटक में राम में यह अन्तर्द्वन्द्व प्रजा को प्रसन्न करने और पत्नी-रक्षा करने मे दिखाई पड़ता है। हेमलेट का अन्तर्द्वन्द्व देखिए—

जीवन और मरण मे कौन श्रेयस्कर है ? क्या जीवित रह कर आक्रमणकारी दुर्भाग्य के पत्थरों और बाणों का निरन्तर प्रहार सहना श्रेयस्कर है अथवा विपत्ति के उमड़ते हुए सागर के विरुद्ध हथियार धारण करना ? मृत्यु का नाम

चिरनिद्रा है । चिरनिद्रा का अर्थ जीवन का अन्त ।[1]

इस अन्तर्द्वन्द्व मे भूल-राक्षसी (Error) का प्रधान हाथ रहता है । यह भूल भी तीन प्रकार से दिखाई जाती है । (१) अनजाने हो जाय (२) जान-बूझकर किन्तु अविचार के कारण हुई हो (३) पूर्णरूपेण जान-बूझकर हुई हो, जैसे—मैकवेथ में । प्रत्येक प्रकार की भूल के मूल में तीन में से एक बात अवश्य होती है—(क) इच्छा की विविध शक्तियाँ अनुपात-हीन बन जाती हैं । (ख) इच्छा और आदर्श मे सघर्ष उत्पन्न हो जाता है । (ग) सामाजिक दबाव के प्रभाव से विचारशक्ति कुठित हो जाती है ।

परिस्थिति (Exposition)

उपर्युक्त विशेपताओ के साथ कामेडी (दुखान्तकी) इतिवृत्त का निर्माण किया जाता है । इतिवृत्त की छ: अवस्थाओ का नामोल्लेख हम पूर्व कर आए हैं । यहाँ प्रत्येक अवस्था पर सक्षेप में विचार कर लेना चाहिए ।

प्रथम अवस्था सूत्रपात या परिस्थिति (Exposition) कहलाती है। इस अवस्था का उपस्थापन नाटककार कई प्रकार से कलापूर्ण ढग से करता है । कभी तो वह नायक को ऐसी स्थिति मे रख देता है, जिसमें वह अदूरदर्शिता से काम करते करते दुखान्तकी (Tragedy) का बीजारोपण करने लगता है । जैसे, लियर का सहसा यह निश्चय कि पुत्रियो में समस्त राज्य का विभाजन उचित है, उसके विनाश का कारण बना । रोमियो जूलियट नाटक में रोमियो की अदूरदर्शिता का एक कार्य सर्वविनाश का कारण बना । रोमियो इस तथ्य से पूर्ण परिचित होते हुए कि जूलियट का परिवार उसका शत्रु है, अपने को उसके (जूलियट) प्रेम-बन्धन में बाँधना चाहता है। हेमलेट को ऐसी पूर्वनिर्मित परिस्थिति मिली, जिसमें उसे मृत पिता की उस प्रेतात्मा के दर्शन होते हैं, जो उसे षड्यन्त्रकारी चाचा से प्रतिशोध लेने का आदेश देती है । स्वय कभी-कभी नायक अपनी मूर्खता से विनाशकारी परिस्थिति का स्वय निर्माण करता है । ओथेलो इयागो के कपटपूर्ण सवादो को सुनकर अपनी ही इर्ष्यालु भावना की सहायता से घातक परिस्थिति निर्मित करता है । ब्रूटस

1—To be, or not to be that is the question
Whether 'ts nobler in the mind to suffer
The slings and arrows of outrageous fortune,
Or to take arms against a sea of troubles,
And by opposing end them ? to die to sleep,
No more, and by a sleep to say we end

कासियस की वातो में आकर अपने घनिष्ठ मित्र सीजर का वध करने वाले षड्यत्रकारियो का नेता बन जाता है।

प्रगति (Progression)

स्वनिर्मित अथवा पूर्व प्राप्त परिस्थिति में पडा हुआ नायक स्वेच्छा अथवा विवशता से अदूरदर्शिता के कार्यों मे उलझता हुआ कार्य में प्रगति करता चलता है। प्रगति के मूल में नायक का सशयात्मक मन है। उसके मन में निरन्तर द्वन्द्व मचा रहता है। कभी केवल आन्तरिक द्वन्द्व के कारण और कभी आन्तरिक द्वन्द्व और बाह्य सघर्ष के साथ-साथ कदम मिला कर चलने के कारण कार्य में निरन्तर प्रगति होती रहती है।

शेक्सपियर अपने नाटको में कार्य-प्रगति के लिए दैवीसयोग को भी स्थान देता चलता है। हम दैवी सयोग की चर्चा पूर्व कर आए हैं। हेमलेट के जहाज पर अकस्मात् आक्रमण हो जाता है, जिससे वह डेनमार्क वापस जाता है। सयोग और दुर्योग के योग से निर्वल चरित्र का नायक क्लाइमेक्स की ओर कार्य की प्रगति करता जाता है।

कलाकार कभी नायक को भ्रामक विचारो का शिकार दिखाकर, कभी उन्माद आदि रोगो के वशीभूत करके (क्राइसिस) चरमसीमा की ओर अग्रसर कराता जाता है।

चरम सीमा (Crisis)

जब नायक विरोधी परिस्थितियो से लडते-लडते सघर्ष की अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है तो उस अन्तिम स्थल को चरम सीमा (Crisis) कहते हैं।

कार्य की ओर झुकाव (Denouement)

सघर्ष जिन दो दलो में होता है, उनमें एक तो पराजित होता है, दूसरा विजयी। जिस स्थल पर एक पक्ष की विजय की, दूसरे की पराजय की पूरी सम्भावना हो जाय, वह स्थल कार्य की ओर झुकाव (Denouement) कहलाता है।

अन्तिम अवस्था (Catastrophe)

नाटक के अन्त मे एक ऐसी अवस्था आती है, जहां कार्य पूर्ण होने लगता है। इस अवस्था को अन्तिम अवस्था (Catastrophe) कहते हैं। यद्यपि 'कैटास्ट्राफी' की स्थिति सुखान्त और दुखान्त दोनो प्रकार के नाटको में आती है, किन्तु इसका प्रयोग प्राय दुखान्त नाटको में ही किया जाता है। पश्चिम में आदिकाल से दुखान्त नाटको को विशेष महत्त्व मिलता आ रहा है। अत इस

शैली के सम्बन्ध में विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक है।

भारतीय रगमच का विकास

रगमच का प्रादुर्भाव कब और किस प्रकार हुआ, यह बतलाना तो सर्वथा कठिन है, परन्तु इतना निश्चित है कि नाटक के साथ-ही-साथ इसकी भी उत्पत्ति हुई होगी, क्योकि सस्कृत में नाटक दृश्य-काव्य कहलाता है और दृश्य वही कहलायेगा जो देखा जा सके और दिखाया जा सके। जिस प्रकार प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य सुनने या सुनाये जाने के कारण श्रव्य-काव्य कहलाते हैं, उसी तरह नाटक देखे जाने के कारण दृश्य-काव्य कहलाता है। नाटको में अनुकरण एव अभिनय की प्रधानता रहती है। अत किसी स्थान पर रगमच के अभाव में नाटक का प्रदर्शन सम्भव नही। भारतीय रगमच के विकास-क्रम को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—१ पूर्व कालीन रगमच, २. मध्य कालीन रगमच तथा ३. आधुनिक रगमच।

पूर्वकालीन रगमच

पूर्वकालीन रगमच का विवरण नाट्य-शास्त्र में बडे विस्तार के साथ मिलता है। प्रेक्षागृहो का वर्णन करते हुए भरत मुनि ने उन्हे तीन प्रकार का बतलाया है—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। प्रत्येक के माप के अनुसार पुन ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर—तीन विभाग किए हैं। इस तरह नौ प्रकार के प्रेक्षागृह होते हैं। नाट्य-शास्त्र की अभिनव-भारती टीका के लेखक आचार्य अभिनव गुप्त ने—"एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इति केचित्, अन्येतु प्रत्येक त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहु, एतदेव युक्तम्" लिखकर स्पष्ट ही प्रेक्षागृहो के नौ भेद उपयुक्त माने हैं। प्रथम विकृष्ट नामक प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए भरत मुनि ने जेष्ठ-विकृष्ट को देवताओ के लिए, मध्यम-विकृष्ट को राजाओ के लिये तथा अवर-विकृष्ट को शेष सामान्य प्रजाजनो के लिए उपयुक्त बतलाया है। मध्यम-विकृष्ट प्रेक्षागृह को सर्वश्रेष्ट बतलाया है।

उसकी लम्बाई-चौडाई का विवरण देते हुए लिखा है कि वह ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौडा होना चाहिये। उसकी लम्बाई को दो भागो में विभक्त करके आधा भाग दर्शको के लिए और आधा भाग रगमच के लिए रखना चाहिये। इस प्रकार ३२ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौडा चौकोर रगमग सर्वश्रेष्ठ माना है। रगमच की लम्बाई को पुन दो भागो में विभक्त करके १६ हाथ नेपथ्य गृह के लिए तथा शेप १६ हाथ रगपीठ और रगशीर्ष के लिए छोड़ना चाहिये। रगशीर्ष बनाने के प्रायः तीन प्रयोजन थे—१. पात्रो के विश्राम करने

के लिए व्यवस्था रहती थी। २ पात्रो के प्रवेश और निष्क्रमण का रहस्य छिपा रहता था। ३ अभिनय सम्बन्धी निर्देशन तथा कुछ आवश्यक पदार्थों के रखने के लिए भी यह उपयुक्त स्थान था।

रगमच प्राय दो मजिल के बनाये जाते थे। ऊपरी मजिल में स्वर्ग आदि का दृश्य दिखाया जाता था। रगमच की सजावट नाटक के विषय एव वर्णन प्रधान रस के अनुकूल रहते थे। सारा रगमच लकडियो से बनाया जाता था। इसी कारण वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते थे। लगभग सभी रगमच राजाओ द्वारा ही बनाए जाते थे। वर्ण-व्यवस्था तथा प्रतिष्ठा के अनुसार सबके बैठने के लिए निश्चित स्थान होते थे।

रगमच का सारा कार्य सूत्रधार के हाथ में होता था। वह बडा ही कला-विद् तथा नृत्य, सगीत एव अभिनय का आचार्य होता था। पात्रो को नाटक के अभिनय की शिक्षा दी जाती थी। समाज मे उनका बड़ा आदर था।

नाटक दोपहर बाद ही खेले जाते थे और एक दिन मे एक नाटक खेला जाता था। सन्ध्या से पूर्व अभिनय समाप्त हो जाता था क्योकि रगमच पर प्रकाश करने का उल्लेख नही मिलता। रगमच पर स्त्री का अभिनय स्त्रीपात्र ही करते थे।

गुप्तकाल में रगमच अत्यन्त विकसित अवस्था तक पहुँच गया था, क्योकि उस काल में भास, अश्वघोष, कालिदास, शूद्रक आदि प्रसिद्ध नाटककारो के समस्त नाटक खेले गये। परन्तु अभी तक राजकीय रगमच ही विकसित हुआ था, सर्वसाधारण के लिये नाट्यगृह नही बने थे।

मध्यकालीन रगमच

भारत के शासन की बागडोर मुसलमानो के हाथ मे आ गई थी। उनके द्वारा नाट्य-कला को प्रोत्साहन नहीं मिला। किसी का रूप बनाना तथा वेश बदलने को वे धर्मविरुद्ध मानते थे। दूसरी ओर राजाओ का आश्रय समाप्त हो जाने से रगमच की सुव्यवस्था नहीं रही और जनता अपने मनोरजन के लिये खुले मैदानो मे स्वाग आदि के रूप में नाटक खेलने लगी। रामलीला, रासलीला आदि नाटक जनता में मनोरजन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करते रहे। इनके लिए कोई विशेष रगमच का विधान नहीं होता था। परन्तु पात्रो की सजावट, सामूहिक तथा व्यक्तिगत नृत्य की योजना रहती थी। इस काल मे रगमच का स्वरूप पहले जैसा न रहा। खुले मैदान में अभिनय प्रस्तुत करने के कारण विवाह तथा युद्ध आदि भी दिखाए जाने लगे। इस काल मे भक्ति-भावना

शैली के सम्बन्ध में विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक है।

भारतीय रगमच का विकास

रगमच का प्रादुर्भाव कब और किस प्रकार हुआ, यह बतलाना तो सर्वथा कठिन है, परन्तु इतना निश्चित है कि नाटक के साथ-ही-साथ इसकी भी उत्पत्ति हुई होगी, क्योकि सस्कृत में नाटक दृश्य-काव्य कहलाता है और दृश्य वही कहलायेगा जो देखा जा सके और दिखाया जा सके। जिस प्रकार प्रवन्ध तथा मुक्तक काव्य सुनने या सुनाये जाने के कारण श्रव्य-काव्य कहलाते हैं, उसी तरह नाटक देखे जाने के कारण दृश्य-काव्य कहलाता है। नाटको में अनुकरण एव अभिनय की प्रधानता रहती है। अत किसी स्थान पर रगमच के अभाव में नाटक का प्रदर्शन सम्भव नही। भारतीय रगमच के विकास-क्रम को तीन भागो में विभक्त कर सकते हैं—१ पूर्व कालीन रगमच, २ मध्य कालीन रगमच तथा ३. आधुनिक रगमच।

पूर्वकालीन रगमच

पूर्वकालीन रगमच का विवरण नाट्य-शास्त्र में बडे विस्तार के साथ मिलता है। प्रेक्षागृहो का वर्णन करते हुए भरत मुनि ने उन्हे तीन प्रकार का बतलाया है—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। प्रत्येक के माप के अनुसार पुन ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर—तीन विभाग किए हैं। इस तरह नौ प्रकार के प्रेक्षागृह होते हैं। नाट्य-शास्त्र की अभिनव-भारती टीका के लेखक आचार्य अभिनव गुप्त ने—"एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इति केचित्, अन्येतु प्रत्येक त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहु, एतदेव युक्तम्" लिखकर स्पष्ट ही प्रेक्षागृहो के नौ भेद उपयुक्त माने हैं। प्रथम विकृष्ट नामक प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए भरत मुनि ने जेष्ठ-विकृष्ट को देवताओ के लिए, मध्यम-विकृष्ट को राजाओ के लिये तथा अवर-विकृष्ट को शेष सामान्य प्रजाजनो के लिए उपयुक्त बतलाया है। मध्यम-विकृष्ट प्रेक्षागृह को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है।

उसकी लम्बाई-चौडाई का विवरण देते हुए लिखा है कि वह ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौडा होना चाहिये। उसकी लम्बाई को दो भागो में विभक्त करके आधा भाग दर्शको के लिए और आधा भाग रगमच के लिए रखना चाहिये। इस प्रकार ३२ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौडा चौकोर रगमग सर्वश्रेष्ठ माना है। रगमच की लम्बाई को पुन दो भागो में विभक्त करके १६ हाथ नेपथ्य गृह के लिए तथा शेप १६ हाथ रगपीठ और रगशीर्ष के लिए छोड़ना चाहिये। रगशीर्ष वनाने के प्रायः तीन प्रयोजन थे—१. पात्रो के विश्राम करने

के लिए व्यवस्था रहती थी। २ पात्रो के प्रवेश और निष्क्रमण का रहस्य छिपा रहता था। ३ अभिनय सम्बन्धी निर्देशन तथा कुछ आवश्यक पदार्थों के रखने के लिए भी यह उपयुक्त स्थान था।

रगमच प्राय दो मजिल के बनाये जाते थे। ऊपरी मजिल में स्वर्ग आदि का दृश्य दिखाया जाता था। रगमच की सजावट नाटक के विषय एव वर्णन प्रधान रस के अनुकूल रहते थे। सारा रगमच लकडियो से बनाया जाता था। इसी कारण वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते थे। लगभग सभी रगमच राजाओ द्वारा ही बनाए जाते थे। वर्ण-व्यवस्था तथा प्रतिष्ठा के अनुसार सबके बैठने के लिए निश्चित स्थान होते थे।

रगमच का सारा कार्य सूत्रधार के हाथ में होता था। वह बडा ही कला-विद् तथा नृत्य, सगीत एव अभिनय का आचार्य होता था। पात्रो को नाटक के अभिनय की शिक्षा दी जाती थी। समाज मे उनका बडा आदर था।

नाटक दोपहर बाद ही खेले जाते थे और एक दिन में एक नाटक खेला जाता था। सन्ध्या से पूर्व अभिनय समाप्त हो जाता था क्योकि रगमच पर प्रकाश करने का उल्लेख नही मिलता। रगमच पर स्त्री का अभिनय स्त्रीपात्र ही करते थे।

गुप्तकाल में रगमच अत्यन्त विकसित अवस्था तक पहुँच गया था, क्योकि उस काल में भास, अश्वघोष, कालिदास, शूद्रक आदि प्रसिद्ध नाटककारो के समस्त नाटक खेले गये। परन्तु अभी तक राजकीय रगमच ही विकसित हुआ था, सर्वसाधारण के लिये नाट्यगृह नही बने थे।

मध्यकालीन रगमच

भारत के शासन की बागडोर मुसलमानो के हाथ में आ गई थी। उनके द्वारा नाट्य-कला को प्रोत्साहन नही मिला। किसी का रूप बनाना तथा वेश बदलने को वे धर्मविरुद्ध मानते थे। दूसरी ओर राजाओ का आश्रय समाप्त हो जाने से रगमच की सुव्यवस्था नही रही और जनता अपने मनोरजन के लिये खुले मैदानो में स्वाग आदि के रूप में नाटक खेलने लगी। रामलीला, रासलीला आदि नाटक जनता में मनोरजन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करते रहे। इनके लिए कोई विशेष रगमच का विधान नही होता था। परन्तु पात्रो की सजावट, सामूहिक तथा व्यक्तिगत नृत्य की योजना रहती थी। इस काल में रगमच का स्वरूप पहले जैसा न रहा। खुले मैदान में अभिनय प्रस्तुत करने के कारण विवाह तथा युद्ध आदि भी दिखाए जाने लगे। इस काल में भक्ति-भावना

अधिक बढगई थी। अतः राम-कृष्ण आदि के जीवन सम्बन्धी अभिनय ही प्रायः जनता के सामने प्रस्तुत होते थे। पात्रो को अभिनय की शिक्षा भी नही दी जाती थी। निर्देशक जनता के सामने ही पात्रो को बताता रहता था। साधारण ढग के परिहास जनता के मनोरजनार्थ प्रस्तुत किये जाते थे। इस काल में अभिनेताओ का सम्मान नही होता था। इस तरह जन साधारण में रगमच का विकास नही हुआ।

आधुनिक रगमच

अग्रेजो के आगमन के उपरान्त ही आधुनिक रगमच का जन्म हुआ। अग्रेजो द्वारा सन् १७४७ में रगमच की स्थापना कलकत्ते के फोर्ट में हो चुकी थी। सन् १७७५ में उसका पुनर्निर्माण हुआ। परन्तु इसमें केवल अग्रेजी नाटको का ही प्रदर्शन होता था। इसके बाद धीरे-धीरे नाटक कम्पनियाँ बनने लगी। पारसी कम्पनी ने अपने रगमच का निर्माण किया। सन् १८६१ में बनारस थियेटर्स के अन्तर्गत शीतला प्रसाद लिखित 'जानकी मगल' नाटक का अभिनय हुआ। सन् १८७० में ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी की नीव पडी। यह कम्पनी हिन्दुस्तनी के नाटक प्रस्तुत किया करती थी तथा इनके अभिनय में उछलकूद, अश्लीलता आदि अधिक रहती थी।

हिन्दी रगमच का निर्माण अभी तक नही हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सत्य हरिश्चन्द नाटक पचासो जगह खेला गया। इसके साथ ही हरिश्चन्द्र युग के अन्य नाटककारो के भी नाटक यत्र-तत्र खेले गये। पारसी कम्पनियो के द्वारा भी राधेश्याम कथावाचक के वीर अभिमन्यु, श्रवणकुमार आदि हिन्दी नाटक खेले गये, फिर भी जिस रगमंच पर ये हिन्दी नाटक खेले गये, वह पारसी तथा अग्रेजी-रगमच से ही प्रभावित था।

सिनेमा के आगमन से समस्त नाटक कम्पनियाँ समाप्त हो गई। अव केवल उत्सवो के अवसरो पर ही कही-कही नाटक देखने को मिलते हैं। मध्यकालीन रामलीलाएँ तथा रासलीलाएँ आज भी प्रचलित हैं, परन्तु नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित पूर्वकालीन रगमच का स्वरूप पूर्णतया लुप्त हो चुका है।

आधुनिक काल में पारसी कम्पनियो के निम्नकोटि के रगमच को देखकर उसके उत्थान के लिए नाटक मडलियाँ बनाई गई। व्रजचन्द ने काशी में 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मण्डली' की स्थापना की। प्रयाग में रामलीला नाटक-मण्डली—जिसका बाद में नाम हिन्दी नाट्य-समिति रक्खा गया—की स्थापना हुई। वम्वई में प्रसिद्ध नेता पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर की स्थापना की है। यह

कम्पनी सुरुचिपूर्ण एव समसामायिक नाटको का प्रदर्शन करके एक सस्कृत रगमच का स्वरूप दर्शको के सामने प्रस्तुत कर रही है। भारत सरकार ने नई दिल्ली में एक कला-केन्द्र की स्थापना की है। इन समस्त प्रयत्नो से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय रगमच पुन अपनी विकासशील अवस्था पर पहुँचेगा।

रेडियो नाटक

रेडियो नाटक इस युग का नितान्त अभिनव आविष्कार है। रेडियो और रेडियो नाटक पश्चिम की देन है। पश्चिम में रेडियो नाटक कुछ पहले से लिखे जा रहे हैं और प्रगतिशील देशो में इनकी नाट्यकला निर्धारित होती जा रही है। हमारे देश पर भी उन नाटको का प्रभाव पडा है, मडनशिल्प के अनुसार रेडियो नाटक के मुख्य भेद इस प्रकार किये जा सकते हैं—१ रेडियो-रूपक, २ फीचर, ३ ध्वनि नाट्य (मनोवैज्ञानिक), ४ स्वोक्ति, ५ फैन्टेसी (भाव-नाट्य या ऋतु सम्बन्धी), ६ ध्वनि-गीतिरूपक, ७ रिपोर्त्ताज, ८ जननाटक तथा ९ व्यग्य।

१. रेडियो रूपक—नाटक की एक यह ऐसी शैली है जिससे नाटककार एक ही समय, एक ही स्थान पर सहस्रो वर्ष—वैदिक काल से प्रारम्भ करके आधुनिक काल तक—के प्रसिद्ध सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक उथल-पुथल का रूप प्रदर्शित कर सकता है। वह सकलन-त्रय के बन्धन को भग कर सकता है और रगमच की "स्वगत" नामक प्रणाली को पूर्ण स्वाभाविक बना सकता है। उस पर अको और दृश्यो का कोई बन्धन नही रहता।

२ रेडियो फीचर—प्रसिद्ध उपन्यासो को नाटक रूप में उपस्थित करके रसास्वादन करने की रेडियो की इस शैली को फीचर कहा जाता है। सर ए० टी० क्विलर काउच (Sir A. T Quiller Couch) के हाथो रेडियो की यह शैली विकसित हुई। इसी शैली पर हिन्दी में प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यासो का रेडियो फीचर मे रूपान्तर हुआ। रेडियो की यह शैली सूचनात्मक और प्रचारात्मक भी होती है। इसमें शुष्क विषयो पर प्रकाश डालने के लिए उससे सम्बद्ध बातो का नाट्य-सा किया जाता है। सुशील का "पचायत-राज" इसका उदाहरण है।

३. ध्वनि नाट्य—वाचिक अभिनय इसका आधार है। इसमें कथोपकथन की प्रधानता रहती है। कुछ इसे अन्धो का सिनेमा कहते हैं। विष्णु प्रभाकर का 'बीमार' इसका उपयुक्त उदाहरण है।

४. स्वोक्ति—एक पात्रीय नाटक है। इसका रूप रगमच के एकाकी से भिन्न होता है। रगमच पर इसमें कथावस्तु का सुसम्वद्ध होना अनिवार्य नही, परन्तु रेडियो पर कथा सुसम्बद्ध होनी ही चाहिये। इसका उदाहरण विष्णु-प्रभाकर का नाटक "सडक" है।

५ फैन्टेसी (भावनाट्य)—इसमे भावात्मक घटना एव अनुभूति को स्वच्छन्द रीति से चित्रित किया जाता है। इसमें मानसिक चिन्तन का सतत प्रदर्शन रहता है। विष्णु प्रभाकर के दो नाटक "अर्द्धनारीश्वर" और "शलभ और ज्योति" उत्तम भावनाट्य हैं। रगमच पर भावनाट्य उस नाटक को कहते हैं, जिसमें अभिनय का हावभाव संगीत तथा नाटक के अन्य उपकरणो से अधिक प्रभावशाली हो। मुद्रा और अनुभावो के द्वारा भावो के प्रदर्शन का नाटक में प्रभुत्व रहने के कारण इसे भाव-नाट्य कहा जाता है। उदयशकर भट्ट का 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य' इसका उदाहरण है।

६ ध्वनि-गीतिरूपक—इसका माध्यम कविता है। आन्तरिक सघर्ष की प्रधानता रहती है। कार्य की अपेक्षा भाव का महत्व अधिक होता है। वृहद् कथा की सक्षिप्ति के लिए वाचक-वाचिका का प्रयोग होता है। भगवतीचरण वर्मा का "कर्ण", सुमित्रानन्दन पत का "शिल्पी", "शुभ्रपुरुष" इसके उदाहरण हैं।

७ रिपोर्त्ताज—यह नाटक की अभिनव-पद्धति है जो विगत युद्धकाल में आविष्कृत एव विकसित हुई। द्वितीय महायुद्ध में महत्त्वपूर्ण घटनाओ, उनके कारणो और परिणामो को समीप से जानने के लिए जनता क्षण-क्षण व्यग्र थी, क्योकि उसके परिणामो से कोई बचा नही था। सबका ध्यान पत्र-पत्रिकाओ तथा रेडियो पर लगा था। इस असाधारण परिस्थिति में कलाकारो ने ऐसे अभिनव नाट्य-विधान का आविष्कार किया, जो घटना और घटनाक्रम के इतिहास, घटनास्थल के वातावरण और घटना में भाग लेने वाली शक्तियो की गति-विधि, वादे-इरादे, रीति-नीति पर पर्याप्त प्रकाश डाल सके। इसमें कलाकार किसी घटना या वर्ण्य वस्तु का वर्णन इस प्रकार करने लगा मानो घटना से सीधा सम्वन्ध रखने वाला व्यक्ति उसका अग वन गया हो। गणतन्त्र दिवस, स्वतन्त्रता दिवस, क्रिकेट मैच, कुम्भ मेला आदि विशेष अवसरो पर रेडियो से जो समाचार प्रसारित होते हैं, उनकी यही शैली है।

पत्र-पत्रिकाओ में युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त सास्कृतिक रिपोर्त्ताज भी लिखे गये हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम रूसी लेखक लियोनिदलियोनोव का सोवियत रिपोर्त्ताज हस के "शान्ति सस्कृति अक" में प्रकाशित हुआ। प्रगतिशील लेखको

ने हिन्दी में रिपोर्ताज लिखने का प्रयत्न किया है। आशा है कि भविष्य में हमारी भाषा में ऐसे रिपोर्ताज लिखे जायँगे जो इस समृद्ध भाषा के उपयुक्त होगे।

८. जन-नाटक—रेडियो द्वारा जन-नाटक को प्रोत्साहन मिला है। ग्रामीण जनता के विनोद के लिए जो नाटक प्रस्तुत किये जाते हैं, वे ही जननाटक हैं जैसे—रास, स्वाँग, ढोलामारू, निहालदे, नौटकी। जननाटको ने देश के सकट-काल में सास्कृतिक विचारो की निरन्तर रक्षा की है। ग्रामीण जनता में किसी नवीन विचार की स्थापना और प्रचार के लिए जननाटक से बढकर कोई दूसरी युक्ति नही है।

९. व्यंग्य—इस नाटक में वाग्वैदग्ध्य, कटाक्ष एव चुभते व्यग्य के द्वारा समाज की कुरीतियो, कुप्रवृत्तियो और आडम्बरमय विधि-विधानो का उपहास किया जाता हैं। 'अश्क' का 'अधिकार का रक्षक', भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक', विष्णुप्रभाकर का 'काग्रेसमैन बनो' और उदयशकर भट्ट का 'दस हजार' हिन्दी के प्रसिद्ध व्यग्य नाटक हैं।

रगमच के नाटक और रेडियो नाटक

"स्टेज के नाटक कुछ हेरफेर के साथ रेडियो के उपयुक्त बनाये जा सकते हैं"—यह विचार विवादास्पद है। कुछ लोग समझते हैं कि रेडियो नाटक एकाकी ही है, पर कई समालोचक इसे भ्रमपूर्ण मानते हैं। अभी तक हमारे देश में रेडियो-नाटक बाल्यावस्था में है। जबतक रेडियो की नाट्यकला विकसित नही हो जाती, तबतक कोई निर्दिष्ट मत नही बन सकता, किन्तु यह सत्य है कि रगमच के सभी नाटक रेडियो पर सफल नही बनाए जा सकते हैं।

अन्तर

(१) रगमच पर आगिक अभिनय का प्राधान्य होता है। नृत्य का समावेश करके नाटक सरस बनाए जाते हैं। इन साधनो का नितान्त अभाव रेडियो-नाटक में होता है, अतएव इस अभाव की पूर्ति ध्वनि के साधनो द्वारा करनी पडती है।

(२) रगमचीय एकाकी नाटको को कार्य, काल और स्थान की इकाई—सकलन-त्रय—का बन्धन किसी न किसी मात्रा में मानना पडता है, किन्तु रेडियो नाटक इन बन्धनो से नितान्त मुक्त है।

(३) जो स्वगत कथन अथवा स्वप्न-सम्भाषण रगमच पर अस्वाभाविक प्रतीत होता है, वह रेडियो पर स्वाभाविक बन जाता है। अतएव रेडियो नाटक

में हृद्गत भावो को प्रकट करने में सुविधा हो जाती है।

(४) रेडियो-नाटक का प्राण सवाद-योजना है, किन्तु रगमचीय नाटक का आवश्यक अग क्रियाशीलता है। रगमचीय नाटक में पात्रो के सवाद से अधिक प्रभाव उनके क्रियाकलाप का पडता है।

५ रगमच पर नाटकीय पात्रो के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रवेश वर्जित है। नाटक की सम्पूर्ण घटनाएँ पात्रो के सम्भापण तथा क्रिया-कलाप-द्वारा प्रकट की जाती हैं, परन्तु रेडियो रूपक में 'कथाकार' नामक एक व्यक्ति वर्णन (Narration) के द्वारा पूर्वापर घटनाओ को सयुक्त करता चलता है। रगमचीय नाटको में विष्कम्भक और प्रवेशक का जो कार्य होता है, रेडियो-नाटक में उसे एक कथाकार वर्णन के रूप में रखता चलता है।

हिन्दी में एकाकी नाटको को रेडियो द्वारा प्रोत्साहन मिला। आज का नाटककार ऐसे एकाकी लिखने का प्रयास करता है जो रगमच और रेडियो-स्टेशन दोनो पर सफल हो सकें। यह मोह नाटककार और नाट्यकला दोनो के लिए हानिकर है। दोनो के पृथक् तन्त्र (टेकनीक) हैं, दोनो के पृथक् प्रयोग हैं। बी० बी० सी० के एक प्रसिद्ध नाटककार का अनुभव है कि "रगमच के लिए लिखा गया नाटक कदाचित् ही रेडियो पर सफल हो।" दोनो प्रकार की कला से परिचय प्राप्त करके एकाकी लिखे जायँगे तो अवश्य ही अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त हो सकेंगे। नाटककार को स्मरण रखना चाहिये कि रगमच के नाटक का माध्यम है आगिक और आहार्य अभिनय, सिनेमा का चलचित्र, किन्तु रेडियो नाटक का माध्यम है माइक्रोफोन—स्वर-प्रक्षेपण यन्त्र। अत माध्यम के पार्थक्य से तन्त्र में अन्तर होना स्वाभाविक है।

रेडियो नाटक का भविष्य

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के जितने नाटक आज रेडियो स्टेशनो पर अभिनीत होते हैं, उतने सिनेमा की प्रयोगशालाओ में भी न होते होगे। इसलिए नाट्यकला का भविष्य रेडियो-रूपक के रचयिताओ के हाथ में है। पश्चिम में यह कला बहुत विकसित हो चुकी है, किन्तु हिन्दी में अनुकरण-मात्र से इस नाट्यकला का विकास सम्भव नही। आश्चर्य यह है कि रेडियो-रूपक के तन्त्र अर्थात् टेकनीक के ऊपर हिन्दी भाषा में कोई प्रामाणिक ग्रथ अब तक प्रकाशित नही हुआ है। नित्यप्रति रेडियो रूपक प्रसारित किये जाते हैं, सहस्रो व्यक्ति उन्हे सुनते हैं, किन्तु रेडियो की नाट्यकला पर गम्भीरता से विचार करने वाला एक भी ग्रन्थ अभी तक नही लिखा गया है।

नवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यास और उसके तत्त्व

उपन्यास का महत्त्व

वर्तमान युग को 'वैज्ञानिक युग' की सज्ञा दी गई है। सब बातो को तार्किक ढग से सोचना, उन्हे क्रमबद्ध युक्तियुक्त ढग से कहना आज के युग की विशेषता है। यदि वक्तव्य वस्तु स्पष्ट न होकर वास्तविकता से परे है तो स्वीकार्य नही। आज का युग भाव-प्रवणता का निराकरण करता है, विचार की गहराई का समर्थन करता है। भावोन्मेष में यदि कविता का जन्म होता है तो विचार-गाभीर्य में गद्य का परिमार्जन। अत आज के घोर वैज्ञानिक-युग में कविता का जीवन खतरे में है। पाश्चात्य कलाविद् कविता के भविष्य के विषय में चिन्तित हैं। उन्हे भय है कि आगे कविता का अस्तित्व ही न मिट जाय। लुई पाउण्ड (Louise Pound) ने अपने फ्यूचर आफ पोइट्री (Future of poetry) नामक लेख में इस शका को स्पष्ट कर दिया है।

विज्ञान के साथ-ही-साथ गद्य का उद्‌भव और उत्कर्ष होता है। आज विज्ञान की चरमावस्था मे गद्य का चरमोत्कर्ष है। पद्य के उत्कर्ष में काव्य और महाकाव्य की रचना होती है। गद्य के उत्थान में एक ओर लेख, निबन्ध, प्रबन्ध की रचना होती है तो दूसरी ओर कथा, आख्यायिका और उपन्यास की। गद्य के परमोत्कर्ष में ही उपन्यास का परमोत्कर्ष होता है। अत विज्ञान के कारण आज का युग गद्य का युग है, और उपन्यास का बोलबाला है। साहित्य-रचना के समग्र अगो को हराता हुआ यह उपन्यास आज साहित्य-ससार का मूर्घन्य वन गया है। युग के प्रभाव से उपन्यास ने ऐसी प्रगति की कि १८६२ ई० में ही आलोचक साँ-वो (Sainte-Beuve) को यह मानना पडा कि उपन्यास में सब कुछ लय होता जा रहा है। इसके क्षेत्र में सब विषयो का समावेश हो जाता है।[1]

उपन्यास सभ्य और सुसस्कृत वनाने के लिए आज एक उपकरण वन गया है। जब भी दो चार छात्र आपस में मिलते हैं तो सहज ही प्रश्न

---

1 Every thing is being gradually merged into the novel There is such a vast scope and its form lends itself to every thing"

—Sainte-Beuve

करते हैं—आज का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कौन है ? कोई तो जेम्स ज्वायस को महत्त्व देता है, कोई जेन आस्टिन Jane Austen को, कोई जार्ज ईलियट George Eliot का प्रशसक होता है। जहाँ भी देखिये, इसी प्रकार उपन्यासो की चर्चा, लेखक की स्तुति, चरित्रो की प्रशसा और आलोचना सुनने को मिलती है। गृहस्थाश्रमियो के लिए तो यह घर का सिनेमा बना हुआ है, और प्रत्येक घर में रामायण की तरह ही सुरक्षित है, क्योकि आज के जीवन की झाँकियाँ उन्हे इन उपन्यासो में मिल जाती हैं। उपन्यास में समाज की यथार्थ जीवन-विधि का दर्शन होता है, अत वर्तमान युग के वास्तविक जीवन को दिखाने के लिए उपन्यास सच्चा प्रतिनिधि है।

उपन्यास की भारतीय परम्परा

यह उपन्यास अपने वर्तमान स्वरूप में यद्यपि नया है, परन्तु इसकी परम्परा अन्य रूपो में भारतीय साहित्य में अखण्ड और अजस्र रूप से बहती हुई चली आई है। यदि अधिक मीनमेष न किया जाय, तो उपन्यास के स्रोत को ढूँढते हुए हम वेदो तक पहुँच सकते हैं। वेद, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सम्पूर्ण ज्ञान का भाण्डार है। देश और काल के प्रभाव से इसमे व्यक्त ज्ञान विविध धारायें ग्रहण करता गया है और नवयुग के अनुरूप जन-रुचि के अनुसार नया नाम धारण करता चला गया है। उपन्यास का सामान्य लक्षण है—'जीवन का कल्पना-जन्य विवेचन,'—और जीवन के रहस्य का सर्वप्रथम उद्घाटन करने वाला 'वेद' है। ब्रह्म और जीव, ब्रह्म और माया, माया का मानव को मर्कट की भाँति नचाना, माया और मृत्यु, मृत्यु के बाद जीवन, ब्रह्म और जीव का मिलन यह सब कल्पना के द्वारा ही जीवन का निरूपण है। कल्पना के माध्यम से जीवन का विश्लेषण करने वाला वेद विश्व में प्रथम प्रयास है। अत उपन्यास की मूल प्रेरणा वेद में निहित हो सकती है। उर्वशी और पुरुरवा, यम और यमी, अगस्त्य और लोपामुद्रा की कथा में उपन्यास का आदि स्रोत माना जा सकता है।

यह कल्पनामय विश्लेषण विभिन्न ढगो से विभिन्न प्रतीको द्वारा मनुस्मृतियो, उपनिषदो से होता हुआ पुराणो तक पहुँचता है। यहाँ आने पर जीवन का विवेचन अधिक स्पष्ट होता है। कल्पना के साथ जीवन का अधिक मिश्रण प्रारम्भ हो जाता है। कथा के रूप में उसकी व्याख्या होने लगती है। कल्पना का योग अनुपाततः कम होने लगता है। विशिष्ट चरित्रो को लेकर वे कथाएँ लिखी जाने लगती हैं। विशेषकर उक्त कथाओ के नायक देवगण ही रहते हैं। धीरे-धीरे राजाओ को भी उस कोटि में स्थान मिलने लगता है। इस

प्रक्रिया में कल्पना से अधिकाधिक हटकर वास्तविकता की ओर बढ़ने का प्रयास है।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने अनुकूल भाव, विचार और आचार देखकर या सुनकर मनुष्य आत्मीयता का अनुभव करते हुए प्रसन्न होता है। उसमें उसकी रुचि हो जाती है। उसके सामीप्य से उसे आनन्द प्राप्त होता है। पुराणो में इस प्रकार की कथायें—जो मानवीय गुणो व विकारो—प्रेम, दया, दान, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि—का विवेचन करती थी—लोगो द्वारा समादृत हुई, क्योकि उनमें उन्हे अपनेपन की अनुभूति हुई। अत ये कथाएँ परोक्ष रूप में मनोरजन भी करने लगी। अवकाशकाल में इनका पारायण और श्रवण कर लोग श्रम-परिहार करने लगे और उनसे ज्ञान और बुद्धि का परिष्कार भी। अत पुराणो तक आते-आते जीवन का विवेचन प्रारम्भ हो जाता है, जो सुरुचिपूर्ण होता है और मनोरजन भी करता है।

पुराणो की इन कथाओ को यदि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो हमें उनमें उसी प्रकार की तन्मयता लाने की शक्ति मिलती है, जैसी कि आज के उपन्यास में। मनोरजन करने का भी उनमें सामर्थ्य है और कल्पना का भी पुट है। यह जीवन को सरल और स्पष्ट ढग से व्यजित करने की कला है। अतः कथा-साहित्य को पुराणो से सम्बल मिला है, इसमें सन्देह नही।

उपन्यास के ढग पर बडी कहानियो के ग्रन्थ कादम्बरी, दशकुमार-चरित, वासवदत्ता आदि हैं। उनसे छोटी कहानियो के उदाहरण हमें, बौद्ध-जातक, वृहत्कथा, हितोपदेश, पचतत्र, द्वात्रिंशति-पुत्तलिका आदि कई ग्रन्थो में उपलब्ध हैं। इस प्रकार हम भली प्रकार देखते हैं कि सस्कृत-साहित्य में कहानी का प्राचुर्य रहा है। गुलाबराय जी का तो मत यह है कि "इस दिशा मे भारतवर्ष और देशो का गुरु कहा जा सकता है।" किन्तु उपन्यास की श्रेणी में केवल वाण की 'कादम्बरी' और दण्डी का 'दशकुमार चरित' ही आ सकते हैं। वाण की कादम्बरी की ख्याति तो इतनी बढी कि वह मराठी भाषा में उपन्यास के लिए एक व्यापक पर्याय होगया है और अब उपन्यास के स्थान पर प्रचलित है।

"हिन्दी में सस्कृत के आधार पर लिखी गई 'किस्सा तोता मैना', 'सिंहासन वत्तीसी' आदि कुछ वडी कथायें लोगो का मनोरजन करती रही, किन्तु ये जनता की वस्तुएँ थी, साहित्य की नहीं। साहित्यिक कथाओ का प्रारम्भ मुशी इन्शा-अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी', जिसका दूसरा नाम उदयभान-चरित था और सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' से होता है। इनमें एक चलती भाषा में साहित्यिक सौष्ठव लाने का अधिक प्रयत्न है।" यह भारतीय परम्परा की रामकहानी है।

पाश्चात्य परम्परा

वर्तमान उपन्यास भारतीय परम्परा की ही देन नही, इस पर पाश्चात्य प्रणाली का पर्याप्त प्रभाव स्पष्ट है। अत पाश्चात्य उपन्यास की परम्परा के प्रभाव को जाने विना वर्तमान हिन्दी उपन्यास का ज्ञान अधूरा और अपूर्ण रहेगा। पर दोनो परम्पराओ में अद्भुत साम्य है। जिस प्रकार हमने अभी देखा कि वर्तमान उपन्यास का अकुर हमें वेदो में मिल सकता है, उसी प्रकार पाश्चात्य उपन्यास—जिसे आदि अवस्था मे 'फिक्शन' (Fiction) की सज्ञा दी गई है—के मूल को हम वाइवल में ढूँढ सकते हैं। रूथ की कहानी आज किसी भी उपन्यास से कम मर्मस्पर्शिणी नही। रिचार्डबर्टन इसे स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि वाइविल में आए हुए रूथ के इतिवृत्त को यदि हम उपन्यास का नाम दें (जो कि इतिहास का कल्पनाजन्य विवेचन होने के नाते सचमुच है भी) तो उपन्यास का अस्तित्व पुरातनकाल में माना जा सकता है।[1]

यद्यपि बर्टन का यह मत प्रस्ताव रूप में है परन्तु उनका विचार स्पष्ट है कि कथा-साहित्य या वर्तमान उपन्यास का स्रोत वाइवल में ही निहित है। यह परम्परा बोवुल्फ (Beowulf) और किंगहार्न (King-Horn) से होती हुई मध्ययुगीन गद्य कथा-साहित्य तक अग्रसर होती है, जिसका जीता-जागता उदाहरण मैलोरी (Malory) का मार्टि डि आर्थर (Morte De Arthur) है। मध्ययुगीन काल में फ्रास और स्पेन में इसकी रचनायें हुई हैं। इस कथा-साहित्य में प्रेम (Love) और युद्ध (War) का वर्णन है। ये शौर्य और साहस की कौतूहलमय कहानियाँ हैं। स्मरण रखना चाहिए कि कथा-साहित्य (Fiction) की वृद्धि और उपन्यास के विकास मे इन्होने वडा योगदान दिया है। उनके आगे लिली (Lyly) और लॉज (Lodge) इस कथा-साहित्य को गति देते हैं। Jack Wilton जैक विल्टन जैसी साहस की कहानियाँ लिखी जाने लगी और डैनियल डिफो (१३५९-१७३१) का रॉविन्सन-क्रूसो, कथा-साहित्य को पुष्ट करनेवाली आदिम रचना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनो परम्पराओ मे आरम्भ Fiction या कल्पनाजन्य कथा से होता है, जिसका मूल हमें पवित्र धार्मिक

1—If the name Fiction be allowed for a Biblical narration like the Book of Ruth, which in the sense of imaginative and literary handling of material it certainly is, the great antiquity of the form may be conceded　　　　(Richard Burton)

ग्रन्थ वेद और बाइबल में मिलता है। दोनो परम्पराओ में इसका विकास होता है और अन्त में दोनो जगह इसकी स्वतन्त्र वैयक्तिक और प्रभुत्वमयी सत्ता दृढ हो जाती है। फिक्शन (Fiction) आगे चलकर नावेल (Novel) का स्वरूप धारण कर लेता है, और कथा-साहित्य उपन्यास का।

उपन्यास की व्युत्पत्ति

उपन्यास शब्द आधुनिक युग की ही उपज नही, वरन् इसका वर्णन हमें प्राचीन सस्कृत लक्षण-ग्रन्थो में उपलब्ध है। मुख्य रूप से इसकी दो प्रकार की व्याख्यायें की गई हैं। पहली व्याख्या है—'उपन्यास प्रसादनम्' अर्थात् उपन्यास का मूल ध्येय पाठको को प्रसन्न करना है, उनका मनोविनोद और मनोरजन करना है। इसका सूत्रपात्र हमें पौराणिक कथाओ से ही मिलता है। पौराणिक कथाओ में एक ओर धर्म के उपदेश में शिक्षा का पक्ष है तो दूसरी ओर रुचिकर कहानियो से मनोरजन का। मनोरजन उपन्यास का अनिवार्य धर्म है। इसकी आवश्यकता और महत्ता अब तक अक्षुण्ण बनी हुई है। जिस कथात्मक साहित्य में 'प्रसादन' का गुण न हो, वह उपन्यास की कोटि में नही आ सकता। यदि आ भी जाये तो प्रशसनीय नही बन सकता। इसकी जीवनावधि क्षणिक होगी।

दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—"उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यास. सकीर्तित." अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। इस विश्लेषण का तात्पर्य यह है कि उपन्यास दो सयुक्त शब्दो से बना है। 'उप' उपसर्ग है जो 'न्यास' शब्द से जुडा हुआ है। 'उप' का अर्थ है 'उपपत्तिकृत' उपपत्ति शब्द के स्वय कई अर्थ हैं। उपपत्ति का मतलब होता है—हेतु द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का निश्चय।' दूसरे अर्थ हैं 'चरितार्थता', 'सगति' और 'युक्ति'। न्यास शब्द का अर्थ है—'स्थापन'। अत हेतु द्वारा स्थितियो का निश्चय करना, उनमें सगति और सामञ्जस्य बैठाना या तार्किक ढग से उनकी चरितार्थता या वास्तविकता की व्यजना करना, उपन्यास का धर्म है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उपन्यास जीवन के अत्यन्त निकट आकर इसका खाका खींचता है।

उपन्यास का आग्ल पर्यायवाची शब्द नावेल (Novel) है। नावेल का अर्थ है 'नवीन'। जब फिक्शन (Fiction) में कल्पना की अतिशयता खटकने लगी, तब बुद्धि ने इसका अनुमोदन न किया और इसे गल्प करार दिया। १७वी शताब्दी में इस अतिशयता की प्रतिक्रिया हुई। कलाविद् सँभले। उन्होने कल्पना

को न्यून श्रेय देना प्रारभ किया और वास्तविक जीवन को अधिक। कथा-साहित्य में यह एक नवीन आन्दोलन था। यह नया मार्ग था अत इसका नाम नावेल (Novel) पडा। स्टील ने फिक्शन या रोमास का निषेध करते हुए लिखा कि अब मनुष्य का मनुष्य के प्रति स्नेह फिक्शन न बनाकर नावेल प्रस्तुत करेगा।[1]

यहाँ नावेल का जन्म होता है। यहाँ से धारा नया मोड लेती है। इसके परिणाम-स्वरूप रिचार्ड्सन के 'पमिला' (Pamela) नामक उपन्यास का १७४२ में प्रकाशन होता है। यद्यपि १७वी शताब्दी के अन्त में कान्ग्रीव (Congreve) में ही हमें यह अन्तर स्पष्ट होने लगता है फिर भी उपन्यास के रूप में पमिला ही सर्वप्रथम कृति है। अतः रिचार्ड्सन 'नावेल' का जन्मदाता माना जाता है।

'नावेल' का आधुनिक भारतीय साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। भारत की कुछ भाषाओ में 'नावेल' अपने शाब्दिक अर्थ में ही अनूदित हो गया है। मराठी भाषा में अग्रेजी शब्द के आधार पर 'नवल कथा' शब्द गढ लिया गया है और अग्रेजी उपन्यासो के अनुकरण की तो जैसे बाढ-सी आ रही है।

हिन्दी भाषा में भी उपन्यास का स्वरूप तो अवश्य बदला पर नाम वही रहा। कारण यह प्रतीत होता है कि उपन्यास की पहली व्याख्या 'उपन्यासः प्रसादनम्' यदि रोमास या फिक्शन का अधिक अनुमोदन करती थी, तो दूसरी व्याख्या नावेल के अधिक समीप आती थी। अत उपन्यास शब्द ज्यो का त्यो बना रहा।

उपन्यास का सामान्य अर्थ स्पष्ट है। 'उप' का अर्थ होता है, सामने या पास—जैसे उपस्थित में 'उप' का। 'न्यास' का अर्थ होता है क्षेपण, या स्थापना। अत. सयुक्त रूप में उपन्यास का अर्थ हुआ—वाछित विषय का स्पष्टरूप से सामने प्रकाशन या स्थापन। जीवन की गुत्थियो एव गुह्यतम ग्रन्थियो को नि.सकोच रूप से सबके सामने रख देना, उपन्यास शब्द का आशय है। कहने की आवश्यकता नही कि वर्तमान समय में पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनो उपन्यास इस अर्थ को सार्थक कर रहे हैं।

उपन्यास की विविध परिभाषाये

उपर्युक्त व्याख्या उपन्यास का व्युत्पत्तिपरक अर्थ देती है। जब उपन्यास के

1—"Our amours can't furnish out a Romance, they will make a very pretty Novel" (Steele)

लिए समाज और जीवन की गुह्यतम ग्रन्थियो को निस्सकोच रूप से सबके सामने रखने की छूट मिली तब विभिन्न कलाकारो ने विभिन्न दृष्टिकोणो से अपनी २ अनुभूतियो द्वारा जीवनको परखना प्रारम्भ कर दिया। वे अपनी कला सम्बधी योग्यता और शक्ति सीमाओ के अनुसार विवेचन में दत्तचित्त हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि अपने मार्ग को सबसे अधिक सही बतलाते हुए वे लोग उपन्यास की अपनी-अपनी परिभाषाएं बनाने लगे। जब तक उपन्यास की बागडोर हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री के हाथमें रही उपन्यास का स्वरूप 'कल्पित कथा' का था। प्रेमचन्द जी तक आते हुए हम इसके स्वरूप को परिवर्तित पाते हैं। उन्होने कहा है 'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्रपर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्व है।'

प्रसाद जी प्रेमचन्द जी से एक कदम आगे निकल जाते हैं। उनका ध्येय केवल मानव का चरित्र-चित्रण ही नही, वरन् सम्पूर्ण वास्तविकता और यथार्थता का चित्रण है। वे लिखते हैं—'मुझे कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में 'यथार्थ' का आकना सरल प्रतीत होता है।' प्रसाद जी के उपन्यास विशेषत यथार्थवादी हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा का ऐतिहासिकता से स्नेह है। वे लिखते है—'मुझको हिस्टारिकल रोमास पसन्द है। बाल्यकाल से ही अपनी आँखो के चारो ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता आया हूँ। अपने कानो से उसकी विस्मय गाथाएँ सुनाता रहा हूँ। अत कल्पना से मैं दोनो को जोडता हूँ।'

जैनेन्द्र जी का मत है—'कि पीडा ही में परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्मपीडन के ही साधन हैं। इसीलिए मैंने उनमें कामवृत्ति की प्रधानता रखी है। क्योकि काम की यातनाओ में ही आत्मपीडन का तीव्रतम रूप है।'

भगवती प्रसाद वाजपेयी पीडा से आज के मानव की मुक्ति नही मानते। उनका कथन है कि 'मानव की मुक्ति जीवन की आर्थिक विषमताओ को दूर करने में हैं। आज मुझे गाधी या शरत् नही बनना, शोलोखोव और स्टालिन बनना है।' वात्स्यायन जी कहते हैं कि 'अपने उपन्यासो में मैं स्वय हूँ आर उनमें विश्लेपण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है।' इनके उपन्यास जीवन-चरित्र-परक हैं। इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक हिन्दी उपन्यासकार अपने मत की स्थापना करता है, दूसरे की अवहेलना। अत हिन्दी उपन्यास की परिभापा विवादग्रस्त हो जाती है और सर्वमान्य मानदड का अभाव प्रतीत होता है।

समन्वित परिभाषा—परन्तु इस विवाद का अन्त करना अनिवार्य है। हमें

इन सब में सामञ्जस्य की स्थिति लानी है। ऐसी समुचित परिभाषा का निर्माण करना है जो समग्र विवादो को समेट ले। डा० श्यामसुन्दरदास की उपन्यास की परिभाषा इस विवाद का बहुत अश तक निराकरण करती है। 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।' परन्तु यह उपन्यास के मूर्धन्य लक्षण को छोड देती है—जिसके विना ससार का कोई उपन्यास अछूता नही रह सकता। वह लक्षण है प्रेम (Love) का। रिचार्डबर्टन की परिभाषा अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वह इस प्रकार है—"उपन्यास-गद्य मे रचित, कवि के समकालीन जीवन का अध्ययन है। समाज के उत्थान की भावना से अनुप्राणित हो, कलाकार इसकी रचना करता है। इसके लिए वह प्रेमतत्व को प्रधान साधन बनाता है, इसलिए कि प्रेम ही एक माध्यम है जो मनुष्य को सामाजिक बन्धनो मे बाँध देता है।[1]

यह व्यापक समन्वय है। इसकी सीमा में सभी अतीत, वर्तमान और उदीयमान कलाकार समाहित हैं।

उपन्यास के तत्त्व

काव्य या साहित्य के सभी अगो में लगभग समान तत्वो की ही आवश्यकता होती है। सब तत्व मिलकर जीवन की समुत्तम अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करते हैं—केवल कथन में प्रकारान्तर के कारण ही रचनाएँ विभिन्न नाम ग्रहण कर लेती हैं, मूल मे वस्तु और विषय एक ही होते हैं। उपन्यास के तत्वो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है (१) कथावस्तु (२) चरित्र-चित्रण (३) कथोपकथन (४) वातावरण (५) उद्देश्य (६) शैली।

"उपन्यासकार अपनी सुरुचि और आवश्यकता के अनुकूल भिन्न-भिन्न तत्वो पर अधिक वल देते हैं। वास्तव मे ये तत्त्व एक दूसरे से मिले रहते हैं और इन्हें अलग-अलग सत्ता देना उतना ही कठिन है जितना कि किसी सुन्दर फूल से उसका रग अलग करना। प्रेमचन्द सरीखे कलाविद् कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक वल देते हैं तो मार्क्सवादी उपन्यासकार उसकी घटनाओ की छानवीन में या कथावस्तु पर। यह बल कलाकार के आदर्श और उद्देश्य पर वहुत कुछ अवलम्बित रहता है, परन्तु उन्हे सव तत्वो को आनुपातिक परिपाक करना

---

1 It is a study of contemporary society with an implied Social interest and with a special reference to love as a motor force simply becuase love it is which binds together human beings in their social relatoins (Richard Burton)

आवश्यक होता है।"[1] अब इन तत्वो का अलग-अलग विवेचन कर लेना चाहिए।

कथावस्तु

कथावस्तु उपन्यास का महत्त्वपूर्ण अग है। जिस प्रकार नाटक में अभिनय के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि प्रभावोत्पादक होती है, उसी प्रकार भित्ति चित्रकला में और कथावस्तु उपन्यास मे। उपन्यास की कला की सफलता मूलत कथानक के चयन पर आश्रित है। विषय-चयन के साथ-साथ कलाकार की कुशलता घटनाओ के उचित विन्यास में है।

उपन्यासकार को सगति और क्रम का विशेष रूप से ध्यान रखना पडता है। औचित्य और अनौचित्य पर उसे सदा दृष्टि रखनी होती है। वह सदा सतर्क रहता है कि वाछित कथानक के लिए कौन वस्तु ग्राह्य हो और कौन अग्राह्य। "घटनाओ को कलापूर्वक गूँथना उपन्यासकार की सफलता है। अस्त-व्यस्त घटनाएँ ही कथावस्तु का निर्माण नही कर सकती।"[2]

कथावस्तु के अन्य गुणो के साथ-साथ तीन गुण नितान्त आवश्यक हैं: (१) रोचकता (२) सभाव्यता तथा (३) मौलिकता।

(१) **रोचकता**—साहित्य के अन्य अगो की अपेक्षा उपन्यास में रोचकता का वहुत महत्त्व है। यही रोचकता उपन्यास और उपन्यासकार के भाग्य की निर्णायिका होती है। इसके अभाव में उपन्यास नीरस हो जाता है और लेखक को गालियाँ पुरस्कार में मिलती हैं। इस रोचकता को स्थिर रखने वाले दो उपकरण हैं (१) कौतूहल और (२) नवीनता। 'इसके बाद क्या हुआ ?' की जिज्ञासा पाठक को उपन्यास में तल्लीन किए रहती है। इसीलिए उपन्यासकार कौतूहल वनाए रखने के लिए बातो को छिपाते हुए कहता है। नवीनता के कारण पाठक का मन उचटता नही, उसमें रमता जाता है।

(२) **सभाव्यता**—उपन्यास मानव-जीवन का अध्ययन उसके बहुत समीप पहुँचकर करता है। वारीक-से-बारीक वातें भी छूटने नही पाती। अत कथावस्तु में घटनाओ का सभाव्य होना आवश्यक है। अन्यथा पाठक इमे गल्प करार देगा। उसकी सहानुभूति हट जायगी। क्योकि "पाठक पात्रो के साथ अपने जीवन का मिलान करते हैं। घटनाओ में अपने जीवन के अनु-

---

१—बाबू गुलाबराय (काव्य के रूप)।

2—A Simple series of evtens arranged along a single strand of Causation may not properly be calleda plot The word 'Plot' signifies a weaving together (Clayton Hamilton)

रूप ही झाँकियाँ देखना चाहते हैं। अत कलाकार को ससार का यथार्थ ज्ञान होना अनिवार्य है।"[1]

(३) **मौलिकता**—कथावस्तु यदि पिष्ट-पोपित होगी तो वह पाठको का उचित मनोरजन न कर सकेगी अत रचना मौलिक होनी चाहिये। पर मौलिकता की यह समस्या बडी ही कठिन है। इस कसौटी पर जो उपन्यासकार निखर उठता है, वह अपना स्थायी स्थान वना लेता है। कथावस्तु में मौलिकता के साथ-साथ वर्णन के ढंग में भी नवीनता होनी चाहिये। उपन्यासकार को चाहिए कि वह नई कहानी दे, नया दृष्टिकोण दे और नया मार्ग दिखाये।

चरित्र-चित्रण

ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सम्पुट—मनुष्य का रूप और आकार हम पहली झाँकी में देखते हैं और उसके भाव-विचार को उसके निकट सम्पर्क में आने के बाद। चरित्र-चित्रण में मनुष्य का बाह्य और अन्त दोनो स्वरूपो का समावेश होता है। रूप और अग विन्यास तथा कार्य-कलाप से उसका वाह्य-रूप प्रगट होता है। उसके वार्तालाप से उसके विचार व्यक्त होते हैं जिसके द्वारा हम उसके हृदय और मस्तिष्क की परीक्षा करते हैं। मनुष्य के चरित्र को आँकने के लिए उपन्यास में दो चित्रण-विधियाँ प्रधान रूप से प्रचलित हैं।

(१) प्रत्यक्ष चित्रण-विधि (Direct Delineation)

(२) अप्रत्यक्ष-चित्रण-विधि (Indirect Delineation)

प्रत्यक्ष-चित्रण विधि के अनुसार चरित्र की विशेषतायें पाठक के समक्ष स्वय लेखक द्वारा व्यक्त की जाती हैं। उपन्यामकार चरित्र के वाह्याभ्यन्तर दोनो रूपो का प्रकाशन स्वय करता चलता है। पाठक को अपनी अभिव्यक्ति का अवसर कम देता है। इस अवस्था में लेखक चरित्र और पाठक का मध्यस्थ होता है। वह 'चरित्र' को स्वयं पहले भली प्रकार समझता है, फिर पाठक को समझाने का प्रयत्न करता है। पाठक को इस चित्रण-विधि में विशेष मानसिक प्रयत्न नही करना पडता। प्रत्यक्ष-चित्रण कई विधियो द्वारा किया जाता हैं। उन्हे हम सक्षेप रूप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

(क) प्रकाशन-विधि(By exposition)

(ख) वर्णनात्मक-विधि (By Description)

---

1 There should be personal equation of the audience The novelist must of course be influenced by the nature of the audience, he is writing for.—C Hamilton

(ग) मनोविश्लेषण-विधि (By Psycho logical Analysis)
(घ) अन्य पात्रो के मुख से (By Report from other Characters)।

प्रकाशन-विधि

प्रका न-विधि के अनुसार उपन्यासकार प्रारम्भ से ही वास्तविकता को खोलकर सामने स्पष्ट कर देता है। नायक का एक खाका हमारे मस्तिष्क के सामने खिच जाता है। उपन्यास का सूत्रपात ऐसी घटना से होता है जो सारी कथा की केन्द्रविन्दु होती है। लेखक चरित्रो के चित्रण में स्पष्टता का सर्वत्र उपयोग करता है। कोई बात दुराव से नही कहता। जो उसके मस्तिष्क में होता है, वही पाठक के प्रत्यक्ष होता है। गोल्डस्मिथ का 'विकार ऑफ दि वेकफील्ड' इस विधि का उत्तम उदाहरण है। प्रसाद जी की तितली भी इसी कोटि में परिगण्य है।

वर्णनात्मक विधि

वर्णनात्मक विधि में लेखक उतना स्पष्ट नही हो पाता जितना प्रकाशन-विधि में। यहाँ कलाकार चरित्र का 'वर्णन' करता है। इसमें अवातर और स्थूल बाते भी आ जाती हैं। धीरे-धीरे एक-एक अग का वर्णन करते हुए वह आगे बढता है। वह पात्र की एक विशेषता लेता है और उसे तब तक नही छोडता जब तक वह चरित्र को सम्यक् व्यक्त न कर ले।

मनोविश्लेषण-विधि—इस विधि में उपर्युक्त दोनो शैलियो का मिश्रण होता है। क्योकि इस विधि का उपयोग प्रधानतया मस्तिष्क के कार्य-कलापो को अकित करने के लिए होता है। इसका आलम्बन विशेषकर मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क के भावो और विचारो का सघर्ष होता है। इस विधि का उपयोग पाश्चात्य और पौर्वात्य देशो में पर्याप्त रूप मे हो रहा है।

अन्य पात्रो के भाव से

पात्रो की सूचनाओ, उनके व्यग्य, हास्य द्वारा भी हमें सीधे-सीधे किसी एक पात्र के विषय में परिचय प्राप्त होता है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि दूसरो पर व्यग्य और हास्य करते हुए पात्र, अपने भी हृदय और मस्तिष्क का परिचय दे डालते हैं। एक व्यक्ति के वोलने से दो-दो या अनेक पात्रो के चरित्र पर प्रकाश पडता है।

अप्रयत्क्ष चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की इस विधि में उपन्यासकार अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखता

है। वह अपने आपको पाठक से छिपाकर रखता है। पात्र को ही पाठक के सम्मुख ले आता है जिसका वह चित्रण करना चाहता है। पाठक स्वय पात्र से उसका परिचय प्राप्त करता है। लेखक पाठक और पात्र के मध्य निश्चेष्ट रहता है। चरित्र-चित्रण की यह विधा अधिक दुरूह है। परन्तु यदि इसका सफल प्रयोग किया जाय तो प्रत्यक्ष विधि की अपेक्षा यह अधिक कलात्मक होता है। इस विधि के मुख्य तीन प्रकार हैं।

(क) अभिभाषण द्वारा (By Speech)
(ख) क्रिया-कलाप द्वारा (By Action)
(ग) पात्रो पर प्रभाव द्वारा (By Effects on characters)

अभिभा-षण—सभाषण द्वारा पात्र तो अपने चरित्र पर प्रकाश डालता ही है जिसे पाठक को अपनी बुद्धि से समझना पडता है, साथ-ही-साथ वह कभी-कभी अपने चरित्र के विषय में स्वय अपना विचार प्रकट कर जाता है। इस प्रकार सभाषण द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से वह अपना चरित्र-चित्रण स्वय करता है।

क्रिया कलाप—अपने कार्यो को करता हुआ, पात्र, पाठको के मन पर एक प्रभाव छोडता जाता है। पाठक उसके कर्मों में उसके चरित्र का अध्ययन करते हैं। जो पाप करेगा, वह दुष्कर्मी है, दुश्चरित्र है, जो पुण्य करेगा, दया-दाक्षिण्य से ओत-प्रोत होगा, वह सचरित्र और गुणवान् कहलायेगा। क्रिया-व्यापार ही चरित्र की वास्तविक कसौटी है, केवल रूप और वाणी नही।

पात्रो पर प्रभाव

अन्य पात्रो पर जो प्रभाव नायक अथवा अन्य पात्र डालते हैं, उसके द्वारा भी उसका चरित्र आँका जाता है। हैमिल्टन के मत से यह चित्रण-विधि अत्यन्त सूक्ष्म है।[1] यदि जन-समुदाय के मतानुसार व्यक्ति गुणवान् प्रसिद्ध है तो कितना भी निर्गुण क्यो न हो, पूज्य होता है। परन्तु गुणवान् होते हुए भी उसे गुणी होने की यदि मान्यता नही मिलती, तो वह निर्गुण ही है।

चरित्र के प्रकार

चरित्र-चित्रण के विभिन्न प्रकार के अतिरिक्त उपन्यास मे 'चरित्र' या पात्र के भी कई भेद होते हैं। वे निम्नाकित हैं।

1, Pherhaps the most delicate means of indirect delineation is to suggest the personality of one character by exhibiting his effect upon certain other people in the story,

(१) व्यक्ति-प्रधान-चरित्र (Individual character)
(२) वर्ग-प्रधान-चरित्र (Typical character)
(३) स्थिर-चरित्र (Static character)
(४) प्रगतिशील-चरित्र (Kinetic character)

व्यक्ति-प्रधान चरित्र—यद्यपि मनुष्यो में स्थूल गुण-दोषो की समानता होती है पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि किसी-न-किसी गुण-दोष में मनुष्य एक-दूसरे से भिन्न हैं। यदि किसी मे दया की अधिकता है तो दूसरे में क्रोध की। यदि कोई रागी है, तो दूसरा विरागी। कोई योगी है, तो कोई भोगी। इस प्रकार कुछ गुण या दोषो की अतिशयता के कारण मनुष्य दूसरे से अलग अपना एक व्यक्तित्व रखता हैं। यही अन्तर उपन्यास मे व्यक्ति-प्रधान-चरित्र की सृष्टि करता है। यही कारण है कि उपन्यास में प्रायः कई कथाएँ चलती हैं, और उनमें चरित्रो में 'समानता' तथा 'वरोध' प्रदर्शित करके कथानक को आगे वढाया जाता है। व्यक्ति प्रधान चरित्र एक व्यक्ति की विशेषताओ का प्रकाशन करता है।

वर्ग-प्रधान चरित्र—यह चरित्र किसी एक विशिष्ट वर्ग या समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। पात्र जैसा आचरण करता है, उस वर्ग के सभी लोग ठीक उसी प्रकार का आचरण करते हैं। मजदूरो को वर्ग, मिल-मालिको को वर्ग, जमीदारो को वर्ग, किसानो को वर्ग इत्यादि का प्रतिनिधित्व प्राय उपन्यासो में एक ही पात्र करता है। उसमें उस वर्ग के समस्त गुण-दोष विद्यमान रहते हैं। वह अपने वर्ग की आवाज उठाता है। परन्तु प्रत्येक महान चरित्र इन (व्यक्ति और वर्ग) दोनो प्रकार के चरित्रो का अद्भुत मिश्रण होता है। "वर्गयुक्त होने के कारण वह सत्य होता है, व्यक्तित्व-युक्त होने के कारण विश्वश्वनीय।"[1]

स्थिर-चरित्र—उपन्यास में कभी-कभी ऐसे चरित्र भी आते हैं, जिनमें आद्यन्त कोई विकार या परिवर्तन नही होता, यदि प्रारम्भ में अच्छे हैं तो अन्त में भी साधु ही रहेगे। इसी तरह, असाधु लोग असाधु ही रह जाते हैं, साधुत्व की ओर प्रवृत्त नही होते। जीवन मे उत्थान-पतन उनपर कोई विशेष प्रभाव नही डालते। चाहे कितनी विपत्ति में झकझोरे जायँ, पर वे अपना मार्ग नही वदल सकते। सुख चाहे उन्हे कितना ही यशस्वी वनादे, पर अपने गुणो

---

1 Every great charecter of fiction, must exibit, therefore an intimate combination of the tyipcal and individual traits- It is through being typical that the character is true, it is through being individual that tqe character is convincing

को स्थिर बनाए रखते हैं, कभी वासना की बू से प्रभावित नही होने देते ।

प्रगतिशील

प्रगतिशील चरित्रो में निरन्तर आरोह-अवरोह होता रहता है । उनके जीवन में आज सम्पत्ति है तो कल विपत्ति । उनके चरित्र या तो असाधु से साधु की ओर प्रवृत्त होते हैं अथवा साधु से असाधु की ओर । कभी-कभी साधु-असाधु में उतार-चढाव होता रहता है । ऐसे चरित्र को प्रगतिशील चरित्र कहेगे । कुछ लोग इसे विकासशील चरित्र भी कहते हैं । प्रगतिशील चरित्र का यह अर्थ नही कि वह सदा उन्नति करता चले । प्रगति का अर्थ है कि उसमें 'गति' हो, चाहे उत्थान की ओर चाहे पतन की ओर ।

कथोपकथन

पात्रो के परस्पर वार्तालाप को कथोपकथन कहते हैं । कथोपकथन का सीधा सम्बन्ध तो पात्र के चरित्र से ही परिलक्षित होता है परन्तु वही कथावस्तु का विकास भी करता है । अत कथोपकथन का सम्बन्ध कथावस्तु और पात्र दोनो से होता है । वार्तालाप में चयन-सयम बहुत वाछनीय है । जो वार्तालाप कथानक को अग्रसर नही करता या चरित्र पर प्रकाश नही डालता, वह चाहे कितना ही सजीव हो, उपयुक्त नही हो सकता ।

कथोपकथन मे औचित्य का पूर्ण विचार होना चाहिए । जैसा पात्र हो, वैसी बातचीत होनी चाहिए । परिस्थिति और पात्र के बौद्धिक विकास का ध्यान रखना आवश्यक है । यह बात उदाहरण से अधिक स्पष्ट होगी । प्रेमचन्द जी के पात्रो में कथोपकथन पात्रकी इयत्ताके अनुकूल हैं । उनके पुलिस पात्रो की उर्दू भी हिन्दी का ही स्वरूप है । कुछ स्थानो पर दुरुहता अवश्य आ गयी है । इसकी ठीक उलटी प्रसाद जी की भाषा है । उनकी भाषा हमेशा एकरस रहती है । 'ककाल' के सभी पात्र सस्कृत गर्भित भाषा बोलते हैं । वह इन पात्रो की भाषा नही वरन् प्रसाद जी की भाषा है ।

अनुकूलता केवल भाषा की ही वाछनीय नही, वरन् कथोपकथन का विषय भी पात्रो के मानसिक धरातल के अनुरूप होना चाहिए । कभी-कभी अपने विचारो को पिरोने में तल्लीन कलाकार विशेष ज्ञान-प्रदर्शन का मोह रोक नही पाता । फिर उसके प्रदर्शन के लिए भी अनुकूल पात्रो की सृष्टि होनी चाहिए । पात्रानुकलता, स्वाभाविकता, सजीवता और सक्षेप आदि गुण स्पृहणीय है ।

वातावरण

वातावरण उन समस्त परिस्थितियो का सकुल नाम है जिनसे पात्रो को सघर्ष करना पडता है और कथानक का विकास होता है । उपन्यासको वास्त-

विकता का मान देने की कसौटियो में वातावरण मुख्य उपकरण है। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाति देश और काल की जजीर में जकडे रहते हैं। देश और काल की वास्तविक पृष्ठभूमि के बिना पात्रो का व्यक्तित्व स्पष्ट नही होता। घटनाक्रम को समझने में भी उलझन होती है। आजकल, जब कि वस्तु-वाद का बोलबाला है, देश और काल का महत्व उत्तरोत्तर बढता हुआ प्रतीत होता है।

देश और काल के उभय पक्षोमें वास्तविकता लानेके लिए स्थानीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। बम्बई जैसे फैशनेबुल शहर का वर्णन हम बम्बई देखे बिना सफलता पूर्वक नही कर सकते। ऐतिहासिक उपन्यासो में तो इसकी महिमा और बढ जाती है। देशकाल का वर्णन विशेषरूप से आवश्यक होता है। प्राचीनकाल के सम्यक् चित्रण के लिए इतिहास और पुरातत्व की महती अपेक्षा है। वृन्दावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास, इन्ही आधारो पर निर्मित हैं। उदाहरण के लिए उनका 'गढकुण्डार' बुन्देलखण्ड का देश-काल परक चित्रण होने के कारण पठनीय है। कुछ स्थल वीर रस का सचार कराते हैं, तो कुछ स्थल भयानक घटनाओ की वास्तविकता के लिए वाछनीय होते हैं। स्टीवेन्सन अग्रेजी भाषा का सुप्रसिद्ध लेखक है। उसने कहा है, 'कुछ अन्धकार मय उपवन हत्या का आवाहन करते प्रतीत होते हैं, कुछ पुराने मकान मृतप्रेतो के अस्तित्व की माग करते हैं और कुछ भयकार समुद्र के किनारे जहाजो को टकराने के लिए बनाए गये हैं।'

जो वस्तु जहाँ के लिए समीचीन नही, उसका वहाँ दिखाना तथा जो प्रथा किसी काल-विशेष में प्रचलित न थी, उसका उस काल में चित्रित करना भारतीय समीक्षा-शास्त्र में देश-विरुद्ध दोष और काल-विरुद्ध दोप करार दिया गया है। सर्दी के दिनो में लू का चलना, तथा शिमले में लू से मर जाना दोनो क्रमात् काल-दोष या देश-दोष हैं।

देशकाल का चित्रण सदा कथानक की ठीक अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयोज्य होना चाहिए। उसमें अतिशयता नही आनी चाहिए। ऐसा न हो कि वह स्वय साधन का स्थान छोडकर साध्य बन जाय।

देशकाल वातावरण का बाह्य स्वरूप है। वातावरण आन्तरिक भी हो सकता है। आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है, वैसा तो कार्य करता ही है परन्तु उसके भाव, भावना और विचार भी उसकी अनुकूलता और प्रतिकूलतामें सहायक होते हैं। अमुक पात्र की अमुक समय पर मानसिक स्थिति कैसी है, उसका भी विचार कलाकार को अवश्य रखना चाहिए। वास्तव में, प्रकृति और पात्रो

की मानसिक स्थिति के सामञ्जस्य का पाठक पर अच्छा प्रभाव पडता है। कृति में कलात्मकता आती है। यह सामञ्जस्य दो प्रकार से दिखाया जाता है। (१) प्रकृति को पात्र के अनुकूल दिखाकर (२) प्रतिकूल दिखाकर। उदाहरणार्थ (क) चन्द्रकला के साथ उस रमणी की ज्योत्स्ना निखरती जा रही थी (ख) इधर सूर्य का उदय हो रहा था, उधर उसकी जीवन-प्रभा विलीन हो रही थी।

उद्देश्य

जब हम कुछ बोलते हैं, बातचीत करते हैं, भाषण देते हैं, लिखते हैं, तो उसका एक स्पष्ट अर्थ होता है, स्पष्ट उद्देश्य होता है। उसी प्रकार उपन्यास लिखने का भी एक निश्चित उद्देश्य लेखक के समक्ष रहता है। उसी के अनुसार वह भावो व विचारो को मोड देता अग्रसर करता है। आजकल के कितने उपन्यासो में स्पष्टरूप से मार्क्सवाद और साम्यवाद का प्रचार-उद्देश्य ही अभिप्रेत है।

लेखक अपने विचारो को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। जीवन को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखते हुए वह उसकी व्याख्या करता है। उपन्यास में विचार बिखरे हुए रहते हैं। परस्पर विरोधी विचारो का सघर्ष होते हुए भी उनमें एक अन्विति रहती है। अन्त में वही विचार विजयी होता है, जो कलाकार का मन्तव्य होता है।

चरित्र-चित्रण की भाँति उद्देश्य-निरूपण के भी दो प्रकार हो सकते हैं। (१) विश्लेषणात्मक—जिसमें लेखक सीधे ही, अपने दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या स्वय करता चला जाता है। (२) परोक्ष—जिसमें वह झाँकी मात्र उपस्थित करते हुए चलता है। कुछ विचार तो वह (क) पात्रो द्वारा व्यक्त कर देता है और (ख) शेष को जीवन-सम्बन्धी घटनाओ के प्रस्थापन में तथा कथा के परिणाम में व्यजित करता है।

विचार की पृष्ठभूमि का महत्त्व व्यापक हो गया है। उसके आधार आज के उदीयमान उपन्यासकार किसी नीति का उद्घाटन न कर विचारो का विश्लेषण-मात्र करते हैं, क्योकि आज का पाठक स्थायी विचार चाहता है। अत कलाकार को उनके प्रकाशन में बड़े कौशल से कार्य करना पडता है। विचार उपन्यासकार की कसौटी वन गया है। लेकिन जब वह कथाकार का पद त्यागकर उपदेशक का पद ग्रहण कर लेता है, तो आलोच्य वन जाता है। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल जी ने प्रेमचन्द जी के सम्वन्ध में यही आक्षेप किया है कि 'वे उपन्यासकार से उपदेशक वन जाते हैं'। अतः विचारो के विश्लेषण को ऐसा

महत्त्व न दिया जाय कि वह शुद्ध दार्शनिक बन जाय। विचार और भाव का सतुलित एव मर्यादित समन्वय कला और साहित्य की आवश्यकता है। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के विचार इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। "जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामजिक बधनो से जकडे हुए हैं, जिधर निगाह उठती है उधर दु ख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई पडते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है तो कैसे समव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।" इस कथन में अन्तिम वाक्य 'विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे' ध्यान देने योग्य है इसमें 'विचारशीलता' और 'सहृदयता दोनो का सम्बन्ध है। यही उपन्यास का कर्त्तव्य है कि वह दोनो को मिलाता चले, हृदय और मस्तिष्क को जोडता चले।

भाव और रस

हमारा साहित्य रस को प्रधानता देता है, पाश्चात्य-साहित्य उद्देश्य और विचार को, परन्तु रस और भाव को निरा स्वीकार करने से विचार का सर्वथा परित्याग नही होता। विचारों के मूल में भाव स्थित होते हैं। भाव अधिक दृढ होकर भावना का स्वरूप ग्रहण करते हैं, भावना परिपुष्ट होकर विचार का। अत, भाव, भावना और विचार में केवल डिग्री का अन्तर रहता है, फार्म का नही। इसलिए रसोत्पत्ति भाव और विचार दोनो ही अवस्थाओ में सुलभ है।

शैली

कला में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसके स्वरूप, आकृति तथा वेश-भूषा का। यह आवश्यक नही कि सुन्दर आकृति के साथ सद्गुण का सयोग और समावेश हो ही। फिर भी प्रभावोत्पादक मूल्यो और गुण के अकन में ये वैसे ही सहायक होते हैं, जिस प्रकार दूध को शुद्ध बनाए रखने के लिए स्वच्छ और उज्ज्वल पात्रो की अपेक्षा रहती है। चित्त में रसानुभूति के लिए कथा की मौलिकता और रोचकता जितनी सहायक होती है, उतना ही कथन या वर्णन का प्रकार भी। पद-पद पर प्रसन्नता का पुट रखते जाना, जिज्ञासा को जगाते रहना, शैली की प्रक्रिया है। कथावस्तु के अन्य गुण—सगठन, क्रम, सगति आदि—शैली के आन्तरिक पक्ष से सम्बद्ध हैं। तथ्य तो यह है कि उपन्यास में विचारो की अपेक्षा मनोरजन की वस्तु अधिक होती है। इसके द्वारा समाज की परिस्थितियो को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाता है। उपन्यास अन्य काव्यागो की अपेक्षा अधिक मात्रा में 'जन-साहित्य' है। अत प्रसाद गुण को कायम रखना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रसाद गुण के साथ-साथ माधुर्य और ओज को भी उपयुक्त स्थान देना चाहिए। एक ही गुण की प्रधानता से उपन्यास की रोचकता कम हो जाती है।

चलती, विशेषकर मुहावरेदार व सुबोध और सरल भाषा, वाच्छनीय है। क्योकि उपन्यास अल्पशिक्षित से लेकर सुशिक्षित तक सभी मनोनिवेश पूर्वक पढते है।

अलकारो के उपयोग की बहुत आवश्यकता नही होती। फिर भी यदाकदा उनका प्रयोग चमत्कारिक होता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि विरोधाभास के द्वारा व्यग्य को अधिक मार्मिक, सूक्ष्म और प्रभविष्णु बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त गुण काव्य-परिवार के समष्टिगत गुण हैं, लेकिन कौतूहल इसकी अपनी सम्पत्ति है। कल्पना को सत्य में परिवर्तन करना उपन्यास की मुख्य कला है। उपन्यास की शैलियाँ उतनी ही हैं जितने लेखक, क्योकि सूक्ष्म रूप में देखने से किसी लेखक की शैली दूसरे से नही मिलती। फिर भी व्यवहार में दो प्रधान शैलियाँ हैं (१) प्रेमचन्द जी की प्रसादयुक्त चलती भाषा की शैली (२) प्रसाद जी की सस्कृतनिष्ठ भाषा की परिपाटी।

उपन्यास में विस्तार का क्षेत्र अधिक होता है। अत व्यास शैली के लिए अधिक गु जाइश है। फिर भी विस्तार, मर्यादा, और नियत्रण वाछनीय है।

दसवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यास का वर्गीकरण और मूल्यांकन

वास्तविक जीवन का कल्पना-जन्य विवेचन होने के नाते, उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बन गया है। जीवन की नाना समस्यायें, देश, काल और परिस्थिति के अनुसार मनुष्य को परेशान किए रहती हैं। विविध उलझनो में वह भटकता फिरता है। और फिर कल्पना का तो कोई ओर-छोर ही नही, जहाँ सूर्य भी नही पहुँच सकता, कल्पना झट दौड जाती है और अण्ड, पिण्ड-ब्रह्माड का कोई कोना अछूना नही रहने देती। जब दोनो ही—'जीवन' और 'कल्पना' उपन्यास को जन्म देते हैं, तो इसका क्षेत्र विशाल क्यो न हो ? इसी को देखकर तो साँ-बो (Sainte-Beuve) को १८६२ ई० में ही स्वीकार करना पडा था कि "There is such a great vast scope of it that its form lends itself to every thing." उपन्यास का क्षेत्र इतना व्यापक और महान हो गया है कि इसका स्वरूप सभी विषयो को अगीकार कर लेता है। अत उपन्यास के नाना भेद और प्रकार हो गए हैं। यदि यह कहा जाय कि जितने लेखक हैं, उतने ही प्रकार के उपन्यास हैं तो अधिक अत्युक्ति न होगी। फिर भी उनको विशेष वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। सामान्य दृष्टि से सम्पूर्ण हिंदी-उपन्यास-साहित्य को तीन-भागो मे बाँटा जा सकता है।

(१) वहिर्मुखी उपन्यास (२) अतर्मुखी उपन्यास (१) समन्वित उपन्यास। आगे इन तीन विशेष वर्गों के भेद-प्रभेद हो जाते हैं। वहिर्मुखी उपन्यास की श्रेणी में वे समग्र उपन्यास समाहित हैं, जो मानव-जीवन के वाह्य अग का अध्ययन करते हैं। उसे वाहर-वाहर से ही देखने का प्रयास करते हैं। अतर्मुखी उपन्यास मनुष्य के अतर्जगत का निरीक्षण करते हैं, उसकी प्रवृत्तियो, गूढ भावनाओ, गुत्थियो, कुठाओ, दुर्वलताओ पर प्रकाश डालते हैं। समन्वित उपन्यास उपर्युक्त दोनो प्रकारो का अद्भुत मिश्रण है। वाह्य-जगत और अतर्जगत का द्वन्द्व तथा उनमें सामञ्जस्य का चित्रण इसका लक्ष्य है। वहिर्मुखी उपन्यास के तीन प्रभेद प्राप्त हैं :

(१) नीति-प्रधान उपन्यास
(२) घटना-प्रधान उपन्यास
(३) इतिहास-प्रधान उपन्यास

इसी प्रकार अतर्मुखी उपन्यास के दो उपभेद हैं—

(१) मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यास
(२) सिद्धान्त-प्रधान उपन्यास

तीसरे वर्ग समन्वित उपन्यास के अतर्गत भी दो भेद हैं—

(१) चरित्र-प्रधान उपन्यास
(२) समस्या-प्रधान उपन्यास

यह वर्गीकरण उपन्यास की प्रवृत्ति और उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम, दोनो को ध्यान में रखकर किया गया है।

बहिर्मुखी उपन्यास

नीति प्रधान उपन्यास—हिन्दी उपन्यास का इतिहास 'नीति-प्रधान' उपन्यासो से प्रारभ होता है। इसके अतर्गत श्री निवासदास जी का 'परीक्षा-गुरु' नामक उपन्यास विशेष रूप से प्रख्यात हुआ। "इसे हम हिंदी का पहला उपन्यास कह सकते हैं। 'परीक्षा-गुरु' में एक सेठ के लडके के विगडने और अपने मित्र की सहायता से सुधरने के कथानक के सहारे व्यावहारिक उपदेश दिया गया है।" इसमें बीच-बीच में नीति-सम्बन्धी उदाहरण प्रचुर मात्रा में आये हैं। इसमे सस्कृत की नीति-कथाओ की शैली अपनायी गयी है। इसमें 'हितोपदेश' और 'पचतत्र' का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस कोटि के अन्तर्गत प० बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' और राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिंदू' भी उल्लेखनीय हैं।

घटना-प्रधान

बहिर्मुखी उपन्यास का दूसरा भेद 'घटना-प्रधान' उपन्यासो का है। हिन्दी के प्रारभिक काल में लोक-रुचि कौतूहल और तिलस्म की ओर अधिक दिखाई पडती है। उपन्यास के लेखन और अध्ययन का एकमात्र उद्देश्य था—कौतूहल की तृप्ति और अपना मनोरजन। "इस प्रवृत्ति के लिए वावू देवकीनन्दन खत्री का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।" ऐसी घटनाएँ उपस्थित कर देना, जिनमें मन अपने आप रम जाय—क्या हुआ, इसके आगे क्या हुआ की प्यास वढती जाय—इनको अभीष्ट था। ये घटनाएँ जादू के प्रभाव से आविर्भूत-सी लगती हैं। इनमें "तिलस्म और अय्यारी का प्राधान्य" है।

घटना-प्रधान उपन्यास का दूसरा रूप 'जासूसी-उपन्यास' के रूप में आता है। तिलस्मी उपन्यास तथा घटना-प्रधान उपन्यास में अन्तर इतना ही है कि "तिलस्मी उपन्यासो में घटना का क्रम आगे की ओर बढ़ता है", और जासूसी उपन्यासो में पीछे की ओर हटता है। जाससी उपन्यासो में गोपालराम गहमरी का नाम बडे आदर से लिया जाता है। जासूसी उपन्यास बडे ही मनोरजक होते हैं। हिन्दी-साहित्य में उनकी सख्या बहुत अधिक है।

इतिहास-प्रधान

बहिर्मुखी हिन्दी उपन्यास के विकास में तृतीय उत्थान ऐतिहासिक उपन्यास से होता है। प० किशोरी लाल गोस्वामी इसके अग्रदूत हैं। उन्होने अपनी पूर्वज परम्परा से कौतूहल वृत्ति को तो उधार लिया ही, उसमें उन्होने साथ-साथ सामाजिकता और वास्तविकता भी लाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने उपन्यास के ऐतिहासिक होने पर बल दिया। इस ऐतिहासिकता में प्रेम और विलास का मिश्रण करके इन्होने वास्तविक सामाजिक परिस्थितियो का चित्रण किया है। यहाँ से उपन्यास में कल्पना-तत्व का अश कम और सत्य का अश क्रमश अधिक होने लगता है।

यह ऐतिहासिक उपन्यास अपनी पूर्णावस्था मे श्री वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासो में पहुँचता है। उन्होने अपने 'गढकुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' आदि रचनाओ में ऐतिहासिक सामग्री उपस्थित की है, पर रोमास के साथ। उन्होने बचपन से ही अपनी आँखो से बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक भग्नावशेषो को देखा और उन्हीके ही चिंतन में वे लीन होते रहे। अपनी नई उद्‌भावनो के साथ उन खडहरो का मेल करते हुए वे नये ढग से इतिहास और साहित्य का समन्वय करते हैं।

"इनके उपन्यासो में ऐतिहासिकता के साथ-साथ स्थानीय गौरव, स्थानीय रगत और प्रकृति-चित्रण की विशेषता है। इनके पात्र परिस्थिति के अनुकूल स्वाभाविक गति से चलते हैं। उनकी विशेष व्याख्या देने की जरूरत नही पडती। अग्रेजी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार सर वॉल्टर स्कॉट् की भाँति हिन्दी में वर्मा जी अकेले ही उपन्यासकार हैं, जिनमें लोकवार्त्ता को पूरा-पूरा स्थान मिला है। 'गढकुण्डार' का वातावरण भी ऐतिहासिक है और पात्र भी।

"गढकुण्डार में हमको बुन्देलखण्ड की वीर-गाथा काल की-सी मानापमान तथा वीर-दर्प से प्रेरित पारस्परिक मारकाट की प्रवृत्ति मिलती है। बुन्देले ऊँचे थे, खगारे उनसे नीचे। इस ऊँच-नीच के भाव ने दोनो मे सघर्ष की सृष्टि की।

दोनो का विनाश हुआ। खगार की बढती हुई शक्ति चकनाचूर हो गई। ऐतिहासिकता के दृष्टिकोण से वर्मा जी की 'झाँसी की रानी' नवीनता के साथ-साथ उनकी सुन्दरतम रचना है। उसमें सन् १८५७ ई० की घटनाओ एव उनके कारणो पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। रोमास यत्र-तत्र आया है परन्तु गौण बनकर, दबे-दबे, भीगे-भीगे।"

हिन्दी मे बँगला से जो उपन्यास अनूदित हुए, उनसे भी ऐतिहासिक-उपन्यास को सम्बल मिला। बँगला के उपन्यासकारो में बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ऐतिहासिक-उपन्यासकार के रूप में प्रख्यात हैं। उनके उपन्यासो की चारो ओर बडी धूम और हलचल रही। वे रग-रग मे नवीन रक्त और भावनाएँ भरने वाले सिद्ध हुए। 'वन्दे मातरम्' नामक राष्ट्रीय गीत बकिम बाबू के 'आनन्द-मठ' से ही प्रकाश में आया है। इन उपन्यासो ने राष्ट्रीय सगठन में बडा योग दिया।

यह तो बहिर्मुखी उपन्यास और उसके प्रभेदो की चर्चा रही। ऐतिहासिक-उपन्यासो के पश्चात् उपन्यास-साहित्य करवट लेता है। अब कुतूहल धीरे-धीरे समाज के बाह्य और स्थूल अगो से हटकर धीरे-धीरे मनुष्य के आभ्यन्तर ससार की ओर उन्मुख होता है। यह उपन्यास की वय सधि की अवस्था है। इसमें उपन्यास साथ-ही-साथ समाज-परक और व्यक्ति-परक दोनो है। मनुष्य की चित्त-वृत्तियो को समझने का मौलिक प्रयत्न है। दूसरे शब्दो मे मनुष्य के चरित्र को चित्रित करने का प्रयास है।

इस चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से उपन्यास लिखने की दृष्टि से मु शी प्रेमचन्द जी ने उपन्यास-साहित्य में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। इसके उपन्यास सामाजिक हैं परन्तु फिर भी मनुष्य की सहज वृत्तियो के परिचायक भी। 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन' आदि उपन्यास सामाजिक रगमच की आधारशिला पर रचे गए हैं। परन्तु उनमें नायक तथा अन्य पात्रो की बारीकियो को उभार लाने का नया प्रयत्न है। उन्होने स्त्री-पुरुष दोनो को बहुत निकट से परखने की कोशिश की। उन्होने सूक्ष्म दृष्टि से देखा कि स्त्रियो में आभूषण के प्रति कितनी ममता और कितना आकर्षण होता है। इसको उन्होने गबन में भली-भाँति चित्रित किया है।

नर-नारी दोनो स्वाभाविक रूप से सौन्दर्य-प्रेमी होते हैं। यौवनावस्था दोनो को प्रिय लगती है। परिणय इसी अवस्था की आवश्यकता है। पुरुष स्त्री दोनो परिणय-सबन्ध में यौवन और सौन्दर्य चाहते हैं। यह सहज प्रवृत्ति है; यदि इसके विपरीत कार्य किया जाय, तो उन्हे क्षोभ और कष्ट होता है। वे अपने जीवन

को वे भार समझने लग जाते हैं। जैसे 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण है। प्रेमचन्द जी के ये उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास कहे जा सकते हैं। उनकी अपनी मान्यता थी कि मैं उपन्यास को मनुष्य के चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ और उसमें उसका चित्रण करता हूँ। अत उनके उपर्युक्त तथा कुछ अन्य उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास की कोटि में आते हैं।

समस्या-प्रधान

प्रेमचन्दजी के प्रायः सभी उपन्यास विविध समस्याओ को हमारे सामने लाते हैं। उनके काल में राजनीतिक समस्याओ ने सम्पूर्ण देश का ध्यान आकृष्ट किया था। प्रेमचन्द जी ने इन समस्याओ को अपनाया और अपने ढग से उन पर चिन्तन किया। 'रगभूमि' में एक विस्तृत राजनैतिक चित्रपट पर समस्याओ के आन्दोलन का चित्रण है। अन्य उपन्यासो में शोषित वर्ग और दलित जनता की समस्यायें दिखाई गई हैं।

प्रेमचन्द जी न तो सामाजिक अत्याचार सहन कर सकते थे और न ही राजनीतिक। उन्होने ज़मीदार और कृषक की समस्या, उच्चकुल और निम्नवर्ग की समस्या को भी यथास्थान दिया है। उस काल की सबसे विपम समस्या हिन्दू-मुस्लिम-एकता थी, इसको भी उन्होने अपनाया है। उन्होने गाँधीवादी नीति का प्रतिनिधित्व उपन्यासो के माध्यम से ठीक उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार गुप्त-बन्धुओ ने काव्य के। अत प्रेमचन्द जी के उपन्यास कुछ चरित्र-प्रधान हैं, कुछ समस्या-प्रधान। कही-कही पर उन्होने दोनो का मेल भी कर दिया है। 'गबन' में उन्होने प्रसगवश पुलिस के हथकडो का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। उस समय पुलिस का अत्याचार जनता पर असह्य हो उठा था। विदेशी सरकार की नौकरपरस्ती में हिन्दुस्तानी सिपाही हिन्दुस्तानियो से अत्यन्त बर्बरतापूर्ण व्यवहार करते थे। इसका सामना करना था, इसलिए इसको प्रेमचन्दजी ने गबन में दिखलाया है।

कौशिक जी के उपन्यास भी इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि कौशिक जी का क्षेत्र व्यापक था, फिर भी उनके आदर्श मुंशी जी के समान थे। उनके उपन्यास में भी निम्नवर्ग के लोगो (भिखारियो) से मानवता-पूर्ण व्यवहार और सहानुभूति की माग है। इनके दो प्रधान उपन्यास हैं 'माँ' और 'भिखारिणी'। माँ में दो माताओ के चरित्र का चित्रण है—सुलोचना एव सावित्री का—सुलोचना का प्रभाव सच्चरित्रता की ओर ले जाता है और सावित्री का प्रभाव दुराचार की ओर।

'प्रसाद' जी के 'तितली' नामक उपन्यास में ग्रामोत्थान की समस्या को

आधार बनाया गया है, और 'ककाल' नामक उपन्यास में वर्तमान जीवन के खोखलेपन को। 'ककाल' में इस समस्या का हल एशियाई सघ के रचनात्मक कार्य की रूपरेखा के स्वरूप में भी दिखा दिया गया है। यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि इन समस्याओ का हल 'प्रसाद' जी ने भारतीय आदर्शों में ही ढूँढा है। उसके विना भारतीय जीवन सुखमय नही हो सकता, ऐसा उनका विश्वास प्रतीत होता है।

इसी कोटि मे उषादेवी मित्रा अपने आदर्श चरित्रो को समेटे हुए आती हैं। कजरी, पिया, सविता बडी सहनशील नायिकाएँ हैं। उनमें वासनाओ का उन्नयन देखने को मिलता है। उनकी नारियाँ (नारीपात्र) अपने चरित्र से कभी विचलित होती नही दिखाई देती। वे सदा भारतीय आदर्शों का पालन करती हैं, कभी उनसे च्युत नही होती। ऐसी नायिकाएँ अब आजकल के उपन्यासो में शायद ही सुलभ हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द जी तक आते-आते उपन्यास पूर्व परम्परा के समान समाज के बाह्य अगो का चित्रण करते हुए मनुष्य के अतर्जगत की भी व्याख्या करना आरम्भ करता है। अतर्जगत की व्याख्या वर्तमान युग की अपनी निजी विशेषता है। अत प्रेमचन्द जी का युग इन दोनो—भूत और भविष्य—की विशेषताओ का सधिकाल है। इसीसे इनके तथा इस प्रकार के अन्य उपन्यासो को समन्वित उपन्यास की कोटि में रखा गया है। यह कोटि बहुत ही व्यापक है। जीवन का सागोपाग चित्रण इस समन्वित वर्ग द्वारा ही सभव है। इसीलिए प्रेमचन्द जी को उपन्यास-सम्राट् कहा जाता है।

अतर्मुखी उपन्यास—मनोविश्लेषण-प्रधान

हिन्दी उपन्यास पुनः अपना रुख बदलता है। प्रेमचन्द जी के पश्चात् सामाजिक और राजनीतिक उपन्यासकारो की रचना-प्रवृत्ति मन्द पड जाती है। उपन्यास की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व मिलने लगता है। इसका आशय यह नही कि आधुनिक उपन्यासकारो ने समाज को भुला दिया। भुलाया नही बल्कि सामाजिक समस्याओ के सीधे चित्रण की अपेक्षा लक्षणा और व्यजना से अधिक काम लिया। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी उपन्यास लिए जा सकते हैं। इनमे व्यक्ति के विश्लेषण के बहाने समाज का व्यजक चित्र उपस्थित किया जाता है। प्रेमचद जी के पात्रो मे वर्ग का प्रतिनिधित्व अधिक रहता था। अतः उनमें समाज की प्रधानता झलकने लगती थी और साथ-साथ व्यक्ति की गौणता। बाबू गुलाब राय जी का कथन है कि "आधुनिक उपन्यासो में मनुष्य के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन

की कुंजी से उसके चारित्रिक रहस्यो का उद्घाटन किया जाता है। व्यक्ति की दुर्बलताएँ सामाजिक और मानसिक कारणो के आलोक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई हैं।"

इस 'नये वैयक्तिक अध्ययन के अग्रदूत' श्री जैनेन्द्र जी माने जाते हैं। जैनेन्द्र जी आधुनिक युग के प्रभावशाली लेखक और विचारक हैं। उनके प्रख्यात उपन्यास 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' हैं। इनमें चित्रित नारियाँ 'साधारण नैतिक मापदड से बाहर की वस्तु बन गई हैं'। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनके व्यक्तित्व का ही सुगम बोध नही होता। अत वे रहस्य मालूम पडती हैं। जैनेन्द्र जी का सम्बन्ध मानसिक उथल-पुथल से विशेष है। आन्तरिक जीवन पर प्रकाश-क्षेपण उनको अभीष्ट है। 'कल्याणी' के अन्तर्जगत का पूर्ण प्रसार न होने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। 'त्यागपत्र' की मृणाल दयनीय है। उसमें अन्तस् की प्रेरणा अत्यन्त बलवती है, परन्तु सामाजिक विवशता के कारण उसका त्राण नही हो पाता। अत परिणाम रूप में समाज की कठोरता पर गहरा व्यग्य है।

वर्तमान युग ने श्रेय और प्रेय के अतर को मिटा दिया। आजकल के युग का आदर्श यह है कि 'जो स्वाभाविक है, वही सत्य है, वही कर्त्तव्य है'। फ्रॉयड की मनोविश्लेषण-पद्धति ने इस प्रवृत्ति को बहुत उकसाया है। इसके प्रभाव से मनुष्य को व्यक्ति के चरित्र के मूलस्रोतो तक पहुँचने की दृष्टि मिली। कारण के प्रकट हो जाने पर मनुष्य की भूलो, उसके दोषो और पापो का भार कम हो जाता है। हमारे यहाँ महाप्रभु रत्नाम्बर ने भी इसीसे मिलली-जुलती पाप-पुण्य की व्याख्या की है। "जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नही, वह परिस्थितियो का दास है, विविश है। वह कर्त्ता नही है, केवल साधन है, तब पाप और पुण्य कैसा ?" फिर भी मनुष्य का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व तो रहता ही है।

इस मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यास के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी जी हैं। उनका विशेष क्षेत्र नारी के अन्तर्जगत का विश्लेषण है। उन्होने इस विश्लेषण के लिए नारी का प्रेम, उसकी वासना, वासना और कर्त्तव्य का सघर्ष इत्यादि का माध्यम अपनाया है। उनमें अधिकाश. शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और उसके सौन्दर्य-नियत्रण की चर्चा है। इस प्रकार की सामग्री 'प्रेमपथ' और 'पिपासा' में प्राप्य है।

'दो बहिनें' नामक उपन्यास में उन्होने नारी-जाति का चरित्र दिखाने

का प्रयत्न किया है। उसमें उन्होने एक ही प्रेमी के साथ दो बहिन-प्रेमिकाओ को रखकर एक मनोविश्लेपणात्मक प्रश्न उपस्थित किया है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी इसमें काफी क्षेत्र है। 'निमन्त्रण' में पूर्वीय और पाश्चात्य आदर्शो का द्वन्द्व दिखलाया गया है।

फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के प्रचार और प्रसार से आजकल के उपन्यासो मे रूप-लालसा की वृद्धि हो गई है। यदि जीवनक्रम मे कही दोप आता है तो उसके विकार को अवचेतन मानस पर थोप दिया जाता है। उस अज्ञात अध-कारमय कोने में पैठने की अथवा उस पर सर्चलाइट डालने की कोशिश की जाती है। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासो में व्यक्ति के बाहरी आडम्बर का पर्दा-फास तो होता ही है, उसकी ऊपरी टीमटाम और विडम्बना भी चकनाचूर होती है, साथ-साथ उसके आतरिक जगत को नग्न रूप में देखा जाता है।

प० इलाचन्द्र जोशी और श्री नरोत्तम नागर इस प्रवृत्ति के उपन्यासकारो में मुख्य हैं। 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास मे जोशी जी ने मनोविज्ञान-द्वारा विश्व की समस्याओ का समाधान ढूढ निकालने का प्रयत्न किया है। परतु वह समाधान किसी साधारण व्यक्ति के ज्ञान से अधिक महत्त्व का नही। जोशी जी के तीन उपन्यास 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'सन्यासी' में दो स्त्रियाँ शाति और जयन्ती क्रमशः नद-किशोर की ईर्ष्या और अहकार वृत्ति की शिकार बनती हैं। इस तरह यह उपन्यास ईर्ष्या-मनोभाव का चित्रण है। 'पर्दे की रानी' की नायिका निरञ्जना के चरित्र में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का पूरा उपयोग किया गया है। यह वेश्या-पुत्री अपने जन्म-जात सस्कारो के कारण नैतिकता को विपरीत परिस्थितियो में भी सदा बचाती रही। नरोत्तम नागर जी के 'दिन के तारे' नामक उपन्यास में मनोविश्लेषण का अपना एक अलग क्षेत्र है। 'दिन के तारे' का नायक शशि है। शशि अपनी माता के प्रभाव में अधिक रहा है, अतः उसे बहुत ही मानता है, बहुत ही प्रेम करता है। यह देख उसकी पत्नी कुढती और चिढती है। यह प्रवृत्ति प्रायः अधिकाश घरो में देखने को मिल जाती है। इस प्रकार अतर्मुखी उपन्यास का क्षेत्र उत्तरोत्तर प्रगति करता जा रहा है। मनोविश्लेषण-प्रधान कृतियो की सख्या अनुदिन बढती जा रही है।

सिद्धान्त-प्रधान

अतर्मुखी उपन्यास का द्वितीय विभेद है 'सिद्धान्त-प्रधान उपन्यास'। इस कोटि के अन्तर्गत वे उपन्यास आते हैं जो किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रचार एव प्रसार के उद्देश्य से लिखे गए होते हैं। या तो वे समाजवाद की प्रतिष्ठा करते

हैं या साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद की। इस कोटि के उपन्यासकारो में श्री राहुल-साकृत्यायन और यशपाल जी है। यशपाल के प्रधान उपन्यास सिद्धान्त-वादी हैं। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', और 'दिव्या' नामक उपन्यासो की विशेषता यह है कि इनमें सिद्धान्तो के पालन के साथ-साथ पात्रो का रोमास भी चलता है। उपन्यास का प्रेम-तत्त्व तो आवश्यक अग है ही (जैसा कि हमने समन्वित परिभाषा के आधार पर रिचार्ड बर्टन के लेख में देखा है) अत. प्रेम का सन्निवेश तो वाछनीय है।

'दादा कामरेड' में सिद्धान्त और जीवन का समन्वय है। 'देशद्रोही' का नायक डॉक्टर खन्ना कम्यूनिस्ट है। इसमें पात्रो की बात-चीत के माध्यम से साम्यवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है। कांग्रेस के सिद्धान्तो का विरोध भी किया गया है। 'पार्टी कामरेड' में यशपाल द्वारा कांग्रेस के कार्यकर्ताओ और उनके कार्यक्रमो पर व्यग्य है। किन्तु वे (यशपाल) साम्यवादी दल की कार्यकर्त्री गीता का चरित्र आदर्शवादिता की सीमा तक ले जाते हैं। सेठ भाभरिया और नायिका दोनो अपने स्नेह का दल के अनुशासन के लिए बलिदान कर देते हैं। इससे पार्टी का अनुशासन दृढ और पुष्ट होता है। राहुल साकृत्यायन की सैद्धान्तिक उपन्यास की प्रणाली यशपाल से भिन्न है। अपने 'सिह सेनापति' नामक उपन्यास में राहुल ने मार्क्सवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।

उपन्यास-साहित्य विकास-शील साहित्य है। इसकी द्रुतगति से उन्नति हो रही है। वैज्ञानिक युग और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इसके भाडार को विस्तृत और महान् बनाते चले जा रहे हैं। पाश्चात्य देशो में उपन्यास की कला-विधाओ (Techniques) के नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। आधुनिकतम प्रयोग एपिक नावेल (Epic novel) का है। उसका प्रयोग अभी हिन्दी में प्रारभ नही हुआ। जीवनी-उपन्यास का तो सूत्रपात श्री अज्ञेय जी द्वारा हो गया है। इस विषय में उनकी कृति 'शेखर—एक जीवनी' सराहनीय कृति है। इस प्रकार उपन्यास-साहित्य में नई-नई विधाओ को जन्म दिया जा रहा है। यह विकासशील साहित्य बनता जा रहा है। इसका क्षेत्र उत्तरोत्तर व्यापक हो रहा है।

ग्यारहवाँ अध्याय

हिन्दी निबन्ध के तत्त्व और उसका वर्गीकरण

सामान्य परिचय

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के साथ-साथ मनुष्य की प्रवृत्ति रागात्मिकता की ओर से हटकर बौद्धिकता की ओर उन्मुख होने लगी। मनुष्य में वस्तुओ के स्वरूप को समझने और उसमें तारतम्य स्थापित करने की जिज्ञासा वढी। बुद्धि-वादी लेखक कल्पना-विलास से ही सन्तुष्ट न रहकर तार्किक सत्य की शोध में लग गया। उसकी इसी बौद्धिक (Rational) जिज्ञासा ने निवन्ध साहित्य को जन्म दिया।

तर्क-बल से किसी विषय के समर्थन करने की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्यकारो में ग्यारहवी शताब्दी में ही परिलक्षित होने लगी थी। इसी शताब्दी मे भाष्य और टीकाओ की परम्परा चल पडी थी। यह परम्परा बुद्धिगत विपयो—सिद्धान्तो का प्रतिपादन, उनपर आक्षेप तथा उनका समाधान, तर्क द्वारा विषय के स्पष्टी-करण आदि पर अवलम्वित थी। टीका की इस परम्परा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "टीका परम्परा की इस नई शाखा को हम निबन्ध-साहित्य कह सकते हैं। ग्यारहवी शताब्दी के वाद निवन्ध-ग्रन्थो की परम्परा वढती गई।"[1]

हिन्दी में निवन्ध-साहित्य का आविर्भाव धार्मिक आवश्यकताओ के फल-स्वरूप हुआ। निबन्ध-ग्रथो में लोक-जीवन से सम्वद्ध अनेक छोटी-मोटी वातो का विचार-विश्लेषण और व्यवस्थापन किया गया। पण्डितो द्वारा, धार्मिक व्यवस्था सुदृढ रखने के लिए नियमन और व्यवस्थापन का कार्य हुआ। निवन्ध-ग्रथ उसी के परिणाम हैं। इस परम्परा को लक्ष्य करके यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में निवन्ध किसी सुसम्वद्ध विचार-परम्परा का द्योतक है। इसमें विषय-प्रतिपादन की व्यवस्थित पद्धति का अनुसरण किया जाता है।

यद्यपि 'निवन्ध' अंग्रेजी 'एस्से' (Essay) के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है तथापि उनके मूल अर्थ में वहुत अन्तर है। अंग्रेजी में 'एस्से' (Essay) शब्द का प्रयोग

१—हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिन्दी-साहित्य की भूमिका पृ० १४-१५)

सर्वप्रथम 'मॉटेन' द्वारा 'प्रयत्न' के अर्थ में किया गया था। अपने हृदय के उद्गारो तथा मानवीय लोक-जीवन के प्रति अपनी प्रतिक्रियायो को उसने ज्यो का त्यो विना किसी तारतम्य और शृ खला के शब्दो में व्यक्त किया था। मन के भावो की अभिव्यक्ति की यह पद्धति उसके समय में प्रचलित पद्धतियो से कुछ भिन्न थी, जिसे उसने 'एस्से' (Essay) के नाम से पुकारा। यद्यपि इसमें न भावो का विन्यास ही सयत था, न भाषा का लाघव ही परन्तु रचना-पद्धति की एक नई दिशा की ओर सफल सकेत था। उसके तथाकथित एस्से (Essay) में कल्पना, अनुभूति और व्यक्तित्व का भी अनुपम समावेश था।

अग्रेजी साहित्य में इस निबन्ध-कला का उत्तरोत्तर विकास होता गया और १८वी शताब्दी में इसका विखरा स्वरूप 'एडिसन' (Addison) के निबन्धो में परिलक्षित होने लगता है। १८वी शताब्दी से पूर्व अग्रेजी एस्से (Essay) में सुसम्बद्धता और कला-लाघव का अभाव ही रहा। वैकन (Becon) के सूत्रबद्ध एस्से (Essays) में भी कला-लाघव की कुशलता न थी। एस्से के इस प्रचलित स्वरूप को देखकर ही डॉ० जानसन ने एस्से (Essay) की परिभाषा इस प्रकार की—

"एस्से (रचना पद्धति) स्वच्छन्द मन की तरग है, जिसमें तारतम्य और सुघटन न होकर विशृखलता ही प्रधान रूप में विद्यमान रहती है।"[1] परन्तु क्रमश एडिसन (Addison), चार्ल्स लैम्ब (Charles Lamb), मैकाले (Macaulay) और पेटर (Pater) के हाथो में निबन्ध-कला को वल मिला और असम्बद्धता की प्रारम्भिक त्रुटियो को दूर किया गया जो किसी प्रकार की भी कला-कृति के लिए दोष है। इन निवन्धकारो ने 'एस्से' का प्राचीन स्वरूप वदल कर एक नई रूप-रेखा प्रस्तुत की। एस्से का स्वरूप निर्धारित करते हुए हर्बर्ट रीड ने कहा कि "एस्से ३,५०० शब्दो से लेकर ५,००० तक होना चाहिए। ३,५०० शब्दो से कम में लिखा हुआ निवन्ध रेखाचित्र हो जाता है और ५,००० शब्दो से अधिक में लिखा हुआ निवन्ध एक लेख।"[2]

हर्बर्ट रीड 'एस्से' की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि—"एस्से किसी का जीवनवृत्त या आलोचनात्मक विश्लेषण नही होता, न ही यह इतिहास

---

1 "Essay is a loose sally of mind, an irregular indigested piece, not a regular and orderly performance."

2 "The essay length is from 3,500 words to 5,000 words Less than 3,500 becomes a sketchand more than 5,000 becomes a periodical"

होता है और न ही एक प्रबन्ध। इसमे किसी विषय का व्यक्तिगत विश्लेषण तो होता है परन्तु आत्मीयता के रूप में नही, यह विषयगत तो होता है परन्तु विवेचनात्मक नही होता।"[1]

अंग्रेजी कोष में 'Essay' का नूतन अर्थ इस प्रकार दिया है—

"एस्से सीमित आकार किन्तु विस्तृत शैली में लिखी हुई एक रचना है।[2]

अब, अंग्रेजी एस्से (Essay) की नूतन परिभाषा और हिन्दी निबन्ध मे कोई मूलभूत अन्तर नही रह गया है। ये दोनो शब्द समानार्थी हो गए हैं। हर्बर्ट रीड के विचारो के अनुरूप ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी निबन्ध की चर्चा करते हुए लिखा है —"ससार की हरएक बात और सब बातो से सबद्ध है। अपने-अपने मानसिक सघटन के अनुसार किसी का मन किसी सबन्ध-सूत्र पर दौडता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तो के भीतर की नसो के समान चारो ओर एक जाल के रूप मे फैले रहते हैं। तत्त्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रो को पकडकर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरे में कही नही फंसता; पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर विचरता रहता है, यही उसकी अर्थसम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।" इस प्रकार, निबन्ध एक रचना-शैली है, जिसमे लेखक किसी विषय पर व्यक्तिगत ढग से विचार करता है। निबन्ध को एक स्वरूप देने के लिए निम्नलिखित आवश्यक तत्त्व निर्धारित किए गए हैं।

निबन्ध के तत्त्व

(१) निबन्ध के तत्त्वो में मुख्य है इसकी गद्य-रचना। सामान्यतः निबन्ध एक छोटी गद्य-रचना के रूप में होता है किन्तु अपवाद स्वरूप एकाध स्थल पर यह पद्य में भी लिखा गया है।

(२) उसमें (निबन्ध में) लेखक के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। निबन्धकार शास्त्रीय मत का प्रतिपादन नही करता है प्रत्युत वह विषय के सम्बन्ध मे अपना मत व्यक्त करता है। निबन्ध में लेखक की अनुरक्ति-विरक्ति

---

1 " · Essay gives not a biography nor a critical analysis nor a history nor a treatise It is personal in its approach, but not intimate, objective rather than discursive"

2 "Essay is a composition more or less elaborate in style though limited in length"

स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। निर्वन्ध निबन्ध का लेखक व्यक्तित्व की ही व्यजना करता है। जब कि परिबन्ध निबन्ध का लेखक विषय और व्यक्तित्व का सामञ्जस्य करते हुए चलता है।

(३) निबन्ध अपने में पूर्ण रचना है। यद्यपि निबन्ध का विषय-क्षेत्र सकीर्ण होता है और वह केवल विषय के किसी एक पहलू पर ही विचार करता है, फिर भी वह एकबद्ध होता है। उसके प्रारम्भ, मध्य और उपसहार में तारतम्य होता है।

(४) यह अत्यन्त रोचक रचना-प्रकार है। रोचकता निबन्ध की सफलता और लोकप्रियता का प्राण है। अग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य में भी पत्र-पत्रिकाओ के द्वारा ही इस रचना-शैली का विकास हुआ है। अत रजकता सहज रूप से ही इसका अग बन गई है। निबन्ध मे लेखक की प्रतिभा का समावेश होने के कारण सजीवता आ जाती है। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिए ध्वनि, हास्य, व्यग्य, लाक्षणिकता का प्रयोग किया जाता है, जो लेखक की प्रतिभा का बल पाकर बडा रोचक बन जाता है।

(५) भावो का पुट—अच्छे निबन्ध में भावो का योग बराबर देखा जाता है क्योकि निबन्धकार इस क्षेत्र में अपनी पूरी सत्ता—ज्ञानात्मक और भावात्मक—के साथ चलता है। निबन्ध में जब कि लेखक का व्यक्तित्व व्यजित होता है तब यह आवश्यक ही है कि इसमें उसके हृदय-पक्ष का भी योग हो। रामचन्द्र शुक्ल के कई विचार-प्रधान निबन्धो में गहन विचार-विथियो के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोतो का विधान मिलता है। उनके 'लोभ और प्रीति', 'श्रद्धाभक्ति', 'करुणा' जैसे निबन्धो मे जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है।

(६) औपचारिकता का अभाव—अन्य रचना-प्रकारो की अपेक्षा निबन्ध में औपचारिकता कम या नही ही होती। इसके भीतर पाठक और लेखक का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वास्तव में उत्कृष्ट निबन्ध एक खुला पत्र है जो किसी व्यक्ति विशेष को तो सम्बोधित करके नही लिखा गया होता पर जो भी सहृदय पाठक उसे पढता है, वही समझता है कि यहाँ लेखक मुझे सम्बोधित कर रहा है।

निबन्धो का वर्गीकरण

हिन्दी साहित्य में उपलब्ध निबन्धो की विषय-विविधता तथा वर्णनशैली की भिन्नता को देखकर निबन्ध को स्थूल रूप से दो विभागो में विभक्त किया जा सकता है—

(१) परिवन्ध निवन्ध (Objective Essays) or विषयनिष्ठ।
(२) निर्वन्ध निवन्ध (Subjective Essays) or विषयीनिष्ठ।

परिवन्ध निवन्ध में आकार की लघुता रहती है पर उसमें सगति और व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जाता है। उसकी विचार-भूमि एक नमूने पर कटी-छटी, और सजी-सजाई होती है। इसमे विषय की प्रधानता सदा रहती है और लेखक का व्यक्तित्व यद्यपि अन्य रचना-प्रकारो की अपेक्षा अधिक खुलकर सामने आता है पर उसके स्वतन्त्र पर्यवेक्षण, विषय के मार्मिक विवेचन और अर्थगाम्भीर्य का ध्यान भी वरावर रखा जाता है। इस प्रकार के सवसे अच्छे निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल हैं, जिनमें विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन में वैज्ञानिक की-सी यथार्थता, सूक्ष्मता और सतर्कता रहती है तथा भावो को प्रेपित करने के अनुकूल भावमय वातावरण उत्पन्न करने, सवेदना लाने और व्यक्तित्व की व्यजना करने मे 'साहित्यिक की पूरी सहृदयता।' इनका कहना है कि निबन्ध में 'सव अवस्थाओ मे कोई वात अवश्य चाहिए।' इसीसे यह स्पष्ट होता है कि विपय की प्रधानता ये स्वीकार करते हैं। व्यक्तित्व की व्ययजना निवन्ध की एक वडी विशेषता है, यह उन्हे भी मान्य है, पर उसके स्वरूप का निर्णय इस प्रकार करते हैं —"ससार की हरएक बात और सव वातो से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक सघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्वन्ध-सूत्र पर दौडता है, किसी का मन किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक-दूसरे से नथे हुए, पत्तो के भीतर की नसो के समान, चारो ओर एक जाल के रूप में फैले रहते हैं। तत्त्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्वन्ध-सूत्रो को पकडकर किसी ओर सीधा चलता है और वीच के व्योरो में कही नही फँसता, पर निवन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर विचरता रहता है। यही उसकी अर्थ सम्वन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।" इसके अतिरिक्त निवन्धकार में हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनो का सम्यक् योग रहता है और तत्त्वचिन्तक या वैज्ञानिक की रचना में केवल तर्कसम्मत बुद्धि-पक्ष का ही विस्तार मिलता है।

निर्वन्ध निवन्ध में लेखक की मन स्थिति स्वच्छन्द रहती है। इस प्रकार के निवन्ध की पुष्टता (Unity) मन के भावो की एकसूत्रता पर निर्भर होती है, इसमें गद्य-रचना की वाहरी स्थूल व्यवस्थाओ का वन्धन अपेक्षित नही होता। इस प्रकार की रचना हृदय से उद्भूत होने के कारण मानवीय सवेदनाओ से परिपूर्ण होती है और निवन्धकार के प्रातिभ-ज्ञान द्वारा निर्धारित

मानवीय सवेदनाओ की परिधि ही उसकी सीमा है। सहसा उदित कोई भाव, कोई घटना, वातचीत का कोई प्रसग—लेखक के मन मे विचारो की एक शृखला उपस्थित कर देता है जिससे निवन्ध का स्वरूप निर्धारित हो जाता है।

ऐसे निवन्ध में लेखक का व्यक्तित्व ही प्रधान रूप से पाठक के सामने आता है, विषय गौण होता है। इसमे व्यक्त बातो को समझने के लिए पाठक को यह आवश्यक हो जाता है कि वह लेखक के व्यक्तित्व के विषय में पूर्व परिचय प्राप्त करे और उसके अभिव्यक्ति के ढग (हास्य, व्यग्य, लक्ष्यादि) के विषय में भी जानकारी रखे। इस प्रकार के निवन्ध-लेखक का प्रधान उद्देश्य शेष सृष्टि के प्रति अपनी निजी प्रतिक्रियाओ और अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ से पाठक को परिचित कराना होता है। इस तरह के निवन्धकार में शेष सृष्टि के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओ को जानने के लिए पूरी भावज्ञता अपेक्षित होती है।

निर्बन्ध निवन्ध का लेखक रचना के कतिपय स्थिर मापदण्डो की भी अवहेलना कर मानस की तरगो में स्वच्छन्द विहार करना चाहता है। इसकी शैली अव्यस्थित होती है, कल्पना-जन्य भाव-प्रतिमाएँ बिखरी-सी प्रतीत होती हैं यद्यपि अलग-अलग वे स्पष्ट दिखलाई पडती हैं। इसमें विवेक आदि औपचारिक बन्धनो का पूर्ण वहिष्कार होता है। इस कारण पाठक, लेखक से अधिक सामीप्य का अनुभव करता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के निवन्ध 'धोखा', 'अपूर्ण', 'क्या लिखूँ?' आदि हैं।

इस प्रकार विषय की प्रधानता की दृष्टि से तो निबन्ध को स्थूल रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—परिवन्ध निवन्ध और निर्बन्ध निवन्ध। परतु अभिव्यक्ति की विविध प्रणालियो को ध्यान में रखते हुए विशद् रूप से विश्लेषण करने पर निबन्ध को चार मुख्य भागो मे बाँटा जा सकता है—कथात्मक (Narrative), चिन्तनात्मक (Reflective), वर्णनात्मक (Descriptive) और भावात्मक (Emotional)

परन्तु इन प्रकारो में से किसी एक प्रकार को अपनाने के लिए कोई निवन्धकार वाध्य भी नही। वह मिश्रित शैली का भी प्रयोग कर सकता है या इससे भिन्न भी कोई शैली अपना सकता है। फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण को विद्वानो द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

(१) कथात्मक निवन्ध

इसका अधिकाश सवध काल से है, इसमे वस्तु को उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। डा० श्रीकृष्णलाल का मत है कि "हिन्दी साहित्य में कथात्मक निबन्ध हमे तीन रूपो में मिलते हैं। कुछ निवन्ध स्वप्नो की कथा के रूप में हैं,

जैसे केशवप्रसाद सिंह का 'आपत्तियो का पहाड,' लल्लीप्रसाद पाण्डे का 'कविता का दरबार' इत्यादि। धीरे-धीरे लेखकगण स्वप्नो की कथा से आगे वढकर अपने दिवा-स्वप्नो और स्वप्निल भावो का भी वर्णन करने लगते हैं। अस्तु, कमला प्रसाद अपने लेख 'क्या था ?' (लक्ष्मी, जून १९१९) में अपने दिवा-स्वप्न का चित्रण करते हैं।

"आह, वह क्या था ? क्या पीतवर्ण भी मेघमाला में होता है ? यदि होता हो तो वह ऐसे ही वारिद-खण्डो के चन्द्र का अश था। मैं कह नही सकता, पर अहा ! वह विलक्षण अलौकिक छवि अवश्य ही नन्दन-कानन विहारिणी अप्स-राओ की प्रतिमूर्ति थी। सौन्दर्य की आज तक कोई परिभाषा नही बनी, उसकी कोई सीमा नही उपस्थित हुई, उसकी कोई तुलना नही, फिर कैसे कहूँ कि वह छवि सुन्दर थी। जो हो, मैं उसे सुन्दर समझता था। मेरी आँखें इस विश्व में यदि एक बार पर्यटन कर पाती, यदि ससार भर की छवियो को एक-एक कर देखने का अवसर प्राप्त कर सकती, तो भी यही कहती कि सबसे अधिक सुन्दर छवि वही है।" इत्यादि।

इस उदाहरण में यह कथात्मक निबध नही रह गया है वरन् वर्णनात्मक निवध की श्रेणी मे पहुँच गया है क्योकि इसमें लेखक अपनी भावनाओ का वर्णन कर रहा है। कथात्मक निवध ज्यो-ज्यो वर्णनात्मक निबधो के निकट पहुँचता है, त्यो-त्यो उसकी भाषा अधिक कवित्वपूर्ण और व्यजनायुक्त होती जाती है।

कथात्मक निबन्धो की दूसरी शैली आत्म-चरितो की है, जिनमें किसी भावना-वस्तु इत्यादि का मानवीकरण करके उसका चरित्र उसी के शब्दो में सुनाया जाता है। 'इत्यादि की आत्मकहानी', 'दीपक देव का आत्म-चरित' आदि इसी प्रकार के कथात्मक निबन्ध हैं। इनमे इत्यादि और दीपक ने स्वय अपनी कहानी कही है। पार्वतीनन्दन के लेख 'तुम हमारे कौन हो ?' (सरस्वती, अप्रैल १९०४) में जब लेखक सूर्य से पूछता है कि तुम हमारे कौन हो ? और तुमसे हमारा क्या सम्बन्ध है ? तब सूर्यनारायण अपनी कथा आरम्भ करते हैं—"मेरा नाम सूर्य है। मेरे और भी नाम हैं—दिनकर, दिवाकर, प्रभाकर, रवि, भानु, आदित्य अशु-माली वगैरह पर सरकारी नाम मेरा सूरज है।" इत्यादि।

कथात्मक निवन्धो की तीसरी श्रेणी कहानी-शैली के निबन्धो की है। 'राज-कुमारी हिमागिनी', 'महाराज सूरजसिंह और वादलसिंह की लडाई' इत्यादि इसी प्रकार के निवन्ध हैं। कवित्वपूर्ण भाषा या शैली में लिखने पर ये निवन्ध गद्य में खण्ड-काव्य के समान जान पडते हैं। लक्ष्मण गोविन्द आठले का 'वर्षा-विजय' इसी प्रकार का निवन्ध है।

(२) वर्णनात्मक निवन्ध

इसमें लेखक किसी प्राकृतिक वस्तु, किसी स्थान, प्रान्त, अथवा किसी मनोहर आह्लादकारी दृश्य का वर्णन करता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के निवन्ध-लेखको की दो कोटियाँ मिलती हैं। प्रथम वे हैं जिन्होंने वर्णन की व्यास शैली को अपनाया है। इसमें एक ही वात को समझा-समझाकर विस्तार के साथ कहा जाता है।

वर्णनात्मक निवन्धो में व्यास-शैली का उदाहरण देखिए—

"निर्मल वेत्रवती पर्वत को बिदारकर वहती है और पत्थरो की चट्टानो से समभूमि पर, जो स्वय पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्ददायक वाघनाद मीलो से कर्ण में प्रवेश करता है और जलकण उड-उडकर मुक्ताहार की छवि दिखाते हैं और रवि-किरण के सयोग से सैकडो इन्द्र-धनुष बनते हैं। नदी की थाह में नाना रग के प्रस्तरो के छोटे-छोटे टुकडे पडे रहते हैं जिन पर वेग से वहती हुई धारा नवरत्नो की चादर पर वहती हुई जलधारा की छटा दिखाती है।"

—कृष्ण वलदेव वर्मा के 'वुन्देलखड पर्यटन' से।

वर्णनात्मक निवन्धो में समास-शैली का भी प्रयोग किया गया है। इसमें सस्कृत शब्दो का वाहुल्य रहता है। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा लिखा हुआ जगवहादुर नाम के पार्वतीय कुली का वर्णन लीजिए—

"पार्वतीय पथ और पत्थरो की चोट से टूटे नाखून और चुटीली उङ्गलियो के बीच में ढाल वनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु वनाकर भी खुर न देने वाले परमात्मा का उपहास कर रही थी। पाँव से दो वालिस्त ऊँचा और ऊनी-सूती पैवन्दो से वना हुआ पैजामा मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्वना-जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट में, नीचे के मटमैले अस्तर की झाँकी देती हुई ऊपरी तह तार-तार फटकर झालरदार हो उठती थी और अव अपने पहनने वाले को एक झवरे जन्तु की भूमिका में उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रग और अनिश्चित रूप वाली दोपालिया टोपी के छेदो से रूखे वाल जहाँ-तहाँ झाँक कर मैले पानी और उसके वीच-वीच में झाँकते हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।"

—श्रीमती महादेवी वर्मा
('स्मृति की रेखाएँ' से)

(३) चिन्तनात्मक या विचारात्मक निबन्ध—

इसमें तर्क का सहारा अधिक लिया जाता है, यह मस्तिष्क की वस्तु है। भावात्मक निबन्ध का सम्पर्क सीधे हृदय से होता है, बुद्धि-पक्ष इसमें गौण होता है तथा रस और भावो की सुन्दर व्यजना होती है। यद्यपि काव्य के चारो तत्त्व (कल्पना-तत्त्व, रागात्मक-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व और शैली-तत्त्व) सभी प्रकार के निबन्धो में अपेक्षित रहते हैं तथापि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धो में कल्पना की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धो में बुद्धि-तत्त्व को और भावात्मक निबन्धो में रागात्मक-तत्त्व को मुख्यता मिलती है। शैली-तत्त्व सभी में समान रूप से वर्तमान रहता है। वर्णनात्मक और कथात्मक दोनो ही प्रकार के निबन्धो मे कही चिन्तन की और कही भावात्मकता की प्रधानता हो सकती है। किसी-किसी निबन्ध में भावात्मक तथा विचारात्मक तत्त्वो का सुन्दर सामञ्जस्य होता है।

अन्य निबन्धो की अपेक्षा विचारात्मक निबन्धो में बुद्धि का पुट अधिक मिलता है। आचार्य शुक्ल जी ने विचारपूर्ण निबन्धो का आदर्श इस प्रकार निर्धारित किया है —

"शुद्ध विचारात्मक निबन्धो का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गए हो और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हो।"

शुक्ल जी ने स्वय अपने निबन्धो में उपर्युक्त कथन का निर्वाह किया है। समास-प्रधान-शैली के निबन्धकारो को यह आदर्श अभीष्ट है। समास-प्रधान-शैली में 'गागर में सागर' अर्थात् थोडे में बहुत कहने की प्रवृत्ति रहती है।

समास-प्रधान-शैली का सुन्दर उदाहरण हमें शुक्ल जी के निबन्ध 'करुणा' में भली प्रकार मिलता है। उदाहरण के लिए देखिए—

"दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुख और आनन्द दोनो की श्रेणियो में रखी गई है। करुणा से क्रोध दुख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है।"

इसके अतिरिक्त विचारात्मक निबन्ध व्यास-शैली में भी लिखे गए हैं। इस प्रकार की शैली में वस्तु को उचित फैलाव के साथ समझा-समझाकर कहने की

ओर झुकाव होता है। विचारात्मक निवन्धकारो मे डा० श्यामसुन्दरदासजी ने व्यास-शैली को अपनाया। इनके प्रमुख निबन्ध 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' में से उद्धृत गद्य-खड में इस शैली की सुन्दर झलक मिलती है। उदाहरण के लिए देखिए—

"भारतीय साहित्य की दूसरी वडी विशेषता उसमें धार्मिक भावो की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की वडी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रो में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण की शक्ति है, अत केवल अध्यात्म पक्ष में ही नही, लौकिक आचारो तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदो के ऐकेश्वरवाद, उपनिषदो के ब्रह्मवाद तथा पुराणो के अवतारवाद और वहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है।"

अपने विचारात्मक निबन्धो में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी समास-शैली का प्रयोग किया है।

विचारात्मक निवन्धो के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं। इस प्रकार के निवन्धकारो को विचारो के सन्तुलन का सर्वदा ध्यान होता है। वे भावद्रेक में विस्मृत होकर विषयान्तर होने के परम विरोधी होते हैं। हिन्दी साहित्य में विचारात्मक निवन्धो के प्रसिद्ध लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास और महावीरप्रसाद द्विवेदी हैं।

(४) भावात्मक निबन्ध

इस प्रकार के निवन्ध की आत्मा पर प्रकाश डालते हुए डा० श्रीकृष्णलाल जी लिखते हैं कि "जिन निवन्धो में रस और भावो की व्यजना प्रधान रूप से परिलक्षित होती है, उन्हे भावात्मक निबन्ध कहते हैं। भावात्मक निवन्धो में लेखकगण भावावेश में आकर अपनी भावनाओ का एक तूफान-सा खडा कर देते हैं। उनके हृदय में रस की एक धारा-सी उमड पडती है जो उनकी लेखनी से कागज पर ढल पडती है। यथा, पण्डित गणपति शर्मा की मृत्यु पर पद्मसिंह शर्मा शोकावेग में लिखते हैं—

"हा, पडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड गए। हाय! हाय! क्या हो गया? यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड अचानक जैसे सिर पर टूट पडा। यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके वियोग-बाण

ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण-पखेरू के पख जलाए डालती हैं। हा! निर्दय-काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किसी भव्यमूर्ति को तोड़कर हृदय-मन्दिर सूना कर दिया।" इत्यादि।

भावात्मक निबन्ध कभी-कभी स्वगत-भाषण का भी रूप ले लेता है जबकि लेखक नाटकीय ढग से किसी अदृश्य वस्तु या व्यक्ति को सम्बोधन करके अपनी भावनाओं का कवित्वपूर्ण और नाटकीय प्रदर्शन करते हैं। अस्तु, 'आशा' लेख में मातादीन शुक्ल लिखते हैं—

'आशा! आशा! कौन? कौन? क्या तुम हो? नही, नही तुम तो नही हो। मुझे ही भ्रम है, अब पहचान पाया। तुम आशा हो। तुम्हारे स्वरूप की, तुम्हारे रूप-लावण्य की, तुम्हारी आकर्षण-शक्ति की ससार प्रशसा करता था—क्या ये सब गुण तुम्ही में हैं? नही, नही कदाचित् ससार भ्रम में हो। मुझे तो विश्वास नही आता। तुम्हारी मूर्ति तो मुझे बडी भयकर जान पडती है।"

(मर्यादा, जु० १९१९)

इस उद्धरण में रसात्मकता का प्राधान्य है। निबन्धो की इसी शैली को 'प्रलाप शैली' और इस प्रकार के निबन्धो को 'प्रलाप निबन्ध' कह सकते हैं। इन भावात्मक लेखो में जब सुन्दर, कवित्वपूर्ण भावो और रसो की व्यञ्जना होती है, तब वे गद्य-गीत के नाम से पुकारे जाते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य चतुरसेन शास्त्री का एक गद्य-गीत 'कहाँ जाते हो?' पढिए।

"और एक बार तुम आए थे, यही तुम्हारा ध्रुव श्याम रूप था, यही तुम्हारा विनिन्दित अभ्यस्त हास्य था, अक्षुण्ण मस्ती थी। इसी तरह तुमने तब भी भारत के नर-नारी—सब लोगो को मोह लिया था। कृष्ण, यमुना इसकी साक्षी हैं।" इत्यादि

(प्रभा, अगस्त १९२२)

भावात्मक निबन्धो की रचना प्राय तीन प्रकार की शैलियो में की जाती है—धारा-शैली, तरग-शैली तथा विक्षेप-शैली। धारा-शैली में विरचित निबन्धो में भावो का प्रवाह बराबर बना रहता है। किन्तु तरग-शैली में भावो का उतार-चढाव परिलक्षित होता है। विक्षेप शैली में भावो की गति उखडी तो रहती है, किन्तु उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का भी ध्यान रखा जाता है।

सरदार पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्धो में धारा-शैली का उदाहरण मिलता है। उनके 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत निम्नलिखित उद्धरण में यह शैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है—

"तारागणो को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र मे गिरा कि गिरा। एक

कदम और, धडाम से नीचे ! कारण केवल इसका यही है कि वह अपने अटूट स्वप्न मे देखता रहा है कि मै रोटी के विना जी सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओ के गूढ भेदो को जान सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परन्तु अब तक न ससार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी वात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निन्द्रा न खुली तो बेधडक शख फूँक दो ! कूच का घडियाल वजा दो ! कह दो, भारतवासियो का इस असार ससार से कूच हुआ।"

तरग-शैली धारा और विक्षेप-शैली के बीच की वरतु है। माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य देवता' शीर्षक निवन्ध के निम्नलिखित उद्धरण से इस शैली का आभास मिल जाता है—

"मैं तुम्हारी एक तस्वीर खीचना चाहता हूँ, मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, कलम की जीभ को वोल लेनें दो। किन्तु हृदय और मसि-पात्र दोनो तो काले हैं। तव मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध विराम अल्हडता का अभिराम केवल श्याम-मात्र होगा। परन्तु ये काली बूँदें अमृत से अधिक मूल्यवान हैं, मैं अपने आराध्य का चित्र जो वना रहा हूँ।

"परन्तु तुम सीधे कहाँ वैठते हो ? तुम्हारा चित्र ? वडी टेढी खीर है ! सिपहसालार, तुम देवत्व को मानवत्व की चुनौती देते हो। हृदय से छन-छन धमनियो में दौडने वाले रक्त की दौड हो, और हो उसके अतिरेक के रक्त तर्पण भी। आह, कौन नही जानता कि तुम कितनो ही की वशी की धुन हो, धुन वह जो 'गोकुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु वनाए हुए है।" इत्यादि।

भावात्मक निवन्धो में विक्षेप शैली—इस शैली में विरचित निवन्धो में बुद्धितत्व का वहुत अभाव रहता है। उदाहरण के लिए वियोगी हरि के निवन्ध 'साहित्यिक चन्द्रमा' का निम्नलिखित अवतरण देखिए—

"हे मृगलाछन ! पाप छिपाए नही छिपता, किस-न-किसी दिन उजागर हो हा जाता है। करोडो वियोगियो का रुधिर-पान करके तुम कुछ मोटे नही हो गए। घटने-वढने का असाध्य रोग भी नही दूर हुआ। हाँ, मुख वेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलक मरने पर भी न छूटेगा। मदिरापान क्या वट्टे खाते जायेगा ? वियोगियो को जला देना क्या हँसी-खेल है ? अभी तो जरा-सी कालिख लगी है, कुछ दिनो मे सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा-पर कवियो ने कई कल्पनाएँ की है।' महाराज डा० रघुवीर सिंह का 'ताज' शीर्षक लेख भी इसी शैली का द्योतक है।

भावोद्रेक की तीव्रता के कारण जब विक्षेप-शैली का लेखक मर्यादा का उल्लघन कर बैठता है, तब उसमें उच्छृखलता आ जाती है और उसका निबन्ध प्रलाप की कोटि में गिना जाने लगता है। विक्षेप-शैली में प्रलाप की अपेक्षा भावावेशजन्य उच्छृखलता कुछ कम रहती है और वह एक दम से मर्यादा की अवहेलना भी नही कर बैठता।

भावात्मक निबन्धो की भाषा—इस तरह के निबन्धो में सकेत द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति का पूर्ण चमत्कार देखने को मिलता है। मर्मस्पर्शिता, सजीवता, ओजस्विता और भाव के अनुसार भाषा का चढाव-उतार इन सबके द्वारा लेखक पाठक के मन पर पूरा प्रभाव डालता है, ऐसे निबन्ध में भाव की सचाई और लेखक की तन्मयता जितनी अधिक रहती है, रचना उतनी ही अधिक प्रभावशाली बन पडती है।

बारहवाँ अध्याय

हिन्दी कहानी के तत्त्व और कहानीकार

लोकरजन के लिए कहानी कहने की प्रवृत्ति मनुष्य में आदिम काल से ही चली आ रही है, परन्तु इसे साहित्य के रूप में बीसवी शताब्दी में ही स्वीकार किया। प्रारम्भिक कहानियो में मनुष्य की आदिम मनोवृत्तियो को आधार मानकर प्राकृत तथा अप्राकृत प्रसगो की योजना द्वारा, कहानीकार का उद्देश्य केवल लोक-रजन करना था। इसमे कथानक का विकास दैव-घटनाओ (Chances) और सयोगो (Coincidences) द्वारा हुआ करता था। परन्तु अस्वाभाविक और अतिमानुषिक प्रसगो से भरी रहने के कारण यह (प्रारम्भिक कहानी) मनुष्य में कुतूहल तो पैदा कर सकती थी पर वास्तविकता से दूर होने के कारण लोक-जीवन पर कोई प्रभाव नही डाल सकती थी। अत साहित्य में, जिसका प्रधान उद्देश्य लोक-जीवन के आदर्शों का दिग्दर्शन करना होता है, इन कथानको को प्रवेश न मिल सका।

आधुनिक युग की साहित्यिक कहानी मानवकेन्द्रित होने लगी है। इसका विषय मनुष्य की किसी एक मनोवृत्ति का यथार्थ चित्रण करना है। चरित्र-चित्रण में मानव-सुलभ सत्य का ही ध्यान रखा जाता है, चाहे वह सत्य मनोवैज्ञानिक हो अथवा व्यावहारिक। कहानी का आकार सीमित होने के कारण इसमे मानव-जीवन का सम्पूर्ण चित्रण तो सम्भव नही परन्तु किसी एक पक्ष का प्रभावोत्पादक चित्रण किया जा सकता है। इसमें पात्र के व्यक्तित्व की एक झाँकी मिल जाती है। उपन्यास की भाँति इसमें वातावरण का विस्तार अथवा अनेक दृश्यो, घटनाओ या परिस्थितियो का विधान नही होता। कहानीकार केवल एक ही दृश्य पर सारा आलोक केन्द्रस्थकर उसके प्रभाव को तीव्रतम बना देता है। उपन्यासकार की भाँति कहानीकार को अपने पात्रो को अनेक परिस्थितियो में उलझाकर उनकी प्रतिक्रिया दिखाने का अवसर नही होता, जो जीवन की अनेकरूपता प्रदर्शित करने के लिए अत्यन्त अपेक्षित है।

कहानी की परिभाषा करते हुए किसी ने कहानी के रूप और आकार पर ही बल दिया और किसी ने उसको भाव-व्यजना को ही मुख्य माना है। अग्रेज़ी उप-

न्यासकार एच जी. वेल्स ने कहानी को वह कथा कहा है जो एक घण्टे में पढी जा सके। (Fiction that can be read in an hour) इस प्रकार इन्होने कहानी का सक्षिप्त होना ही मुख्य वतलाया।

वास्तव में अच्छी कहानी में भाव-व्यजना और शिल्प-विधान दोनो का सुन्दर मेल होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए सर ह्य वालपोल (Sir Hugh Walpole) ने कहानी की परिभापा इस प्रकार की—"कहानी एक कहानी होनी चाहिए, उसमें घटनाओ और आकस्मिकता का लेखा-जोखा होना चाहिए, उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास होना चाहिए जो कौतूहल द्वारा चरम विन्दु और सन्तोषजनक अन्त तक ले जाय।[1]

रायबहादुर डॉ० श्यामसुन्दरदास जी ने अपनी परिभापा मे नाटकीय ढग पर अधिक बल दिया है किन्तु निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को उन्होंने भी आवश्यक माना है, उनकी परिभाषा इस प्रकार है—"आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।"

सभी की गई परिभाषाओ का समन्वय करते हुए श्री गुलावराय जी ने आख्यायिका की परिभाषा इस प्रकार की है—

"छोटी कहानी एक स्वत पूर्ण रचना है, जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करनेवाली व्यक्ति-केन्द्रित घटना या घटनाओ के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढग से उत्थान-पतन और मोड के साथ पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहलपूर्ण वर्णन हो।

कहानी के तत्त्व

उपन्यास की भाँति कहानी में भी छ तत्त्व—कथावस्तु, चरित्र चित्रण, वातावरण, चरम सीमा उद्देश्य और शैली होते हैं परन्तु उनके स्वरूप में अन्तर होता है।

कथावस्तु

कहानी की कथावस्तु अत्यन्त सक्षिप्त होती है। उसमें जीवन के किसी एक रम्य दृश्य का उद्घाटन होता है। इसे प्रभावपूर्ण वनाने के लिए कहानीकार अपने पात्र के व्यक्तित्व के उस मध्यविन्दु को व्यजित करता है, जिससे उसका सम्पूर्ण जीवन चालित होता है। सारी कथावस्तु मे केवल एक ही सवेदना व्याप्त रहती है।

I A short story should be a story, a record of things full of incident and accident, swift movement, unexpected development leading throught suspense to a climax and a satisfying denouement

कहानी की कथावस्तु का गठन कुछ निश्चित नियमो के आधार पर होता है। जिनमें से मुख्य प्रारम्भ, विकास, कौतूहल और चरम सीमा हैं। उपन्यास की कथावस्तु में इनके अतिरिक्त दो अन्य तत्व और भी होते हैं। वे हैं—उतार (Anti-climax) और निर्गति (Denouement)। कहानी को प्रभावपूर्ण वनाने के लिए कहानीकार इसे चरम सीमा (Climax) तक ले जाकर छोड देता है जिससे सवेदनशीलता पाठक के मन पर अन्तिम छाप छोड जाती है और उसका औत्सुक्य वना रहता है। उन्यास की भाँति इसमें सघर्षों की निवृत्ति के लिए प्रयत्न नही किया जाता। इस प्रकार उपन्यास और कहानी की कथावस्तु में मौलिक भेद है।

प्रारम्भ

कहानी सक्षिप्त रचना होने के कारण इसमें भूमिका न बाँध कर बात को सीधे ढग से कहा जाता है। कहानी का पहला वाक्य ही मूल सवेदना के आविर्भाव के लिए वातावरण प्रस्तुत कर देता है। शैली की दृष्टि से कहानी का प्रारम्भ तीन प्रकार से हो सकता है—वर्णनात्मक ढग से, वार्तालाप के रूप में, आत्मकथा की शैली मे।

कुछ कहानीकार कथावस्तु का आरम्भ वर्णनात्मक ढग से करते हैं, जिसमे लेखक एक तीसरे मनुष्य की भाँति कहानी का यथातथ्य वर्णन करता है। उदाहरण के लिए देखिए

"लाजवन्ती के, हाँ, कई पुत्र हुए, परन्तु सव के सव वचपन मे ही मर गए। अन्तिम पुत्र हेमराज उसके जीवन का आश्रय था।" इत्यादि।

(तीर्थ-यात्रा—पृ० १)

और इसी प्रकार लेखक पूरी कहानी सुना जाता है। कही-कही वह प्रकृति का वर्णन करता है, कही पात्रो के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की ओर भी सकेत करता है, और कही-कही उसके सम्भापण ज्यो का त्यो लिख देता है। इस शैली में लेखक को मनुष्य और प्रकृति के चित्रण के लिए पूर्ण स्वतत्रता मिलती है। वह पात्रो का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण सरलता और प्रभावशाली रूप में कर सकता है। इसीलिए कहानी की यह सबसे अधिक प्रभावशाली और सरलतम शैली है। यह शैली वातावरण-प्रधान कहानी के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है।

कहानी प्रारम्भ करने की दूसरी शैली वार्तालाप के रूप में है। इसमें कहानी की कथा और चरित्र वात-चीत के सहारे विकसित होते हैं। परिस्थितियो का ज्ञान कराने के लिए वीच-वीच मे वातावरण का चित्रण वर्णनात्मक ढग से

भी किया जाता है। परन्तु डा० श्रीकृष्णलाल का मत है कि कथानक और चरित्र का विकास साधारणत सलापो के द्वारा ही कराया जाता है। उदाहरण के लिए 'कौशिक' रचित 'ताई' का प्रारम्भ देखिए—

"ताऊ जी, हमें लेलगाडी ला दोगे" कहता हुआ एक पचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौडा।

बाबू जी ने दोनो बाहे फैलाकर कहा, "हाँ, बेटा! ला देंगे।"—यहाँ लेखक ने बिना यह बताए ही कि बाबू रामदास जी कौन हैं और इस बालक का क्या नाम है इत्यादि, कहानी का आरम्भ कर दिया। इसे उसने पीछे वर्णनात्मक ढग से बतला दिया। इस प्रकार के प्रारम्भ से एक प्रकार का नाटकीय सौन्दर्य तो अवश्य आ जाता है, परन्तु वर्णनात्मक शैली की सरलता और सीधापन इसमें नही है। सलापो द्वारा कथानक और चरित्र का विकास इस शैली की सबसे महान् सफलता है। इसमे चरित्र अपने ही भाषणो द्वारा अपने को प्रकट करते हैं, जिससे चरित्र-चित्रण का महत्व बढ जाता है।

कहानी प्रारम्भ करने की तीसरी शैली आत्मचरित की है। इसमें सारी कहानी उत्तम पुरुष में कही जाती हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

"मैं पजाबिन हूँ, परन्तु मेरा नाम बगालियो का-सा है। मैंने अपने सिवा किसी पजाबिन लडकी का नाम 'रजनी' नही सुना।" दत्यादि और इसी प्रकार वह अपने विवाह, अपनी आँखो की चिकित्मा इत्यादि का विस्तृत वर्णन करके पूरी कहानी सुनाती है। इस प्रकार की शैली में अन्य शैलियो की अपेक्षा सत्य का आभास अधिक मिलता है।

कहानी मे कथावस्तु-विकास

कहानी में विकास का उद्देश्य उसके पात्रो को अपने पैरो पर खडे होने की शक्ति प्रदान करने तक ही है। कभी-कभी कहानीकार प्रारम्भ से ही ऐसे पात्रो की सृष्टि कर देता है, जिनको कहानी के अन्दर विकसित होने की आवश्यकता नही पडती ? क्योंकि वे उससे पूर्व ही कहानीकार के अव्यक्त मानस में प्राण-शक्ति पा चुके होते हैं। परन्तु सभी कहानियो में ऐसा नही होता। कहानीकार के लिए साधारणतया यह आवश्यक होता है कि एक ओर तो उस कथावस्तु का क्रमिक विकास हो जिसका सकेत प्रारम्भ मे दे दिया जाता है और दूसरी ओर पात्रो के चरित्र और उनके क्रिया-कलापो के लिए एक आधार तैयार हो जाय। यो तो स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि कब कहानी आरम्भ की स्थिति से विकास की स्थिति में आ जाती है, परन्तु विकास का कोई न कोई

रूप कहानी में अवश्य रहता है। कभी विकास स्वतन्त्र रूप से आया हुआ होता है और कभी वह कुतूहल अथवा सघर्ष के अन्दर ही पर्यवसित रहता है। यह विकास अथवा परिचय चाहे किसी भी रूप में क्यो न हो, गतिहीन होने पर अपने प्रभाव की रक्षा न कर सकेगा। गतिहीनता का कारण अनावश्यक विस्तार भी हो सकता है और लेखक के अनुपात-ज्ञान का अभाव भी।

कौतूहल और सघर्ष

क्रमश विकास को प्राप्त करती हुई कहानी वडी शीघ्रता से पहले समस्याओ और फिर सघर्ष एव द्वन्द्व की ओर वढती है। वास्तव मे कहानी का मूल तत्त्व ही कौतूहल है। 'हाँ फिर क्या हुआ'—यह जानने की निरन्तर इच्छा पर ही सारे कहानी-साहित्य की शक्ति छिपी हुई है। कहानीकार ने एक कहानी का प्रारम्भ कर दिया, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी, परन्तु यौवन का विस्मय और जीवन का सघर्ष यदि उसमें न रहे तो वह कहानी जीवित ही नही रह सकती। कौतूहल का कारण है, पात्रो की परिस्थितियाँ। कौतूहल की सृष्टि पात्रो की विशेष परिस्थिति और उनके आन्तरिक अथवा वाह्य द्वन्द्वो के बीच होती है। इसलिए कभी सघर्ष से पूर्व, कभी वाद में और कभी साथ-ही-साथ एक के अनन्तर दूसरे कौतूहल की योजना की जाती है। कौतूहल का उद्देश्य पाठको के सामने ठीक एक ऐसी परिस्थिति रख देना है, जिसमें किसी पात्र की एक ही भूल सारी कहानी को दुखान्त और एक भी सावधानी से किया गया कार्य उसको सुखान्त वना सकता है।

चरम सीमा

उत्सुकता, आशा और आशका के तीन मनोवेगो के वीच हिलोरें लेते हुए पाठक के सामने जव सारा सघर्ष अन्तिम मोड लेकर एक निश्चित फल के रूप में अपने पूर्ण वेग से वरस पडता है तो विजली की तेजी से सारा कथानक स्पष्ट हो उठता है। यह स्थल ही चरम सीमा है। चरम सीमा में जो कुछ भी होना होता है वह हो जाता है। यहाँ पर कथानक मे एक प्रकार से तनाव आ जाता है। यह पात्रो, घटनाओ और परिस्थितियो के सघर्षों के द्वारा उत्पन्न उलझनो की अन्तिम स्थिति है।

हिन्दी में कुछ कहानीकार ऐसे हैं जिन्होने केवल कथानक-प्रधान ही कहानी लिखी है। इस प्रकार की कहानी उच्चकोटि की कृति नही मानी जाती। इसमें चरित्र-चित्रण पर, अथवा वातावरण और परिपार्श्व (Setting) पर प्रधान रूप से जोर नही दिया जाता वरन् उन उलझनो पर विशेष जोर दिया जाता है जो विविध चरित्रो के विविध परिस्थितियो मे पडने के कारण पैदा हो जाती

है। 'कौशिक' की अधिकाश कहानियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। ज्वालादत्त शर्मा और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की भी कहानियाँ कथानक प्रधान ही हैं। इस प्रकार की कहानियो मे कथानक का विकास बहुत स्वाभाविक और यथार्थ रीति से होना चाहिए, अस्वाभाविक रीति से होने से कहानी का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसमें दैव-घटना और सयोग का विशेप हाथ रहता है।

चरित्र-चित्रण

मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ पात्र के व्यक्तित्व की व्यजना कहानी का प्रधान अग बन गई। इसमें पात्र के चरित्र के उस अग का चित्रण होना है, जिससे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का आभास मिल सके।

चरित्र-चित्रण के प्रकार

कहानीकार चरित्र-चित्रण के लिए मुख्यत दो प्रकार की शैलियो का अनुसरण करते हैं। कुछ विश्लेषणात्मक (Analytical) ढग को अपनाते हैं और कुछ नाटकीय ढग को। विश्लेषणात्मक शैली का लेखक पात्र के चरित्र का स्वय विश्लेषण करता चलता है और नाटकीय शैली का लेखक पात्र के वार्तालाप और कार्य-कलाप के माध्यम से उसके चरित्र का चित्रण करता है। चरित्र-चित्रण की नाटकीय शैली कला की दृष्टि से उत्कृष्ट मानी जाती है।

चरित्र-प्रधान कहानियो के रचयिताओ में प्रेमचन्द का प्रमुख स्थान है। उनकी 'आत्माराम', 'बडे घर की बेटी', 'बाँका गुमान' 'दफ्तरी', 'बूढी काकी', 'सारधा', 'मुक्ति-मार्ग', 'अग्नि-समाधि' आदि हैं। इन कहानियो में चरित्र-चित्रण की कला का सुन्दर उदाहरण मिलता है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशकर प्रसाद और आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी चरित्र-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं।

कहानियो में चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालते हुए डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है "कहानियो में स्थानाभाव के कारण चरित्रो के सभी अगो और पक्षो का विशद चित्रण सम्भव नही है, इसलिए केवल एक विशेप पक्ष ही बडी सावधानी से चित्रित किया जाता है, जिससे चरित्र का पूरा-पूरा चित्रण हो जाय और अन्य सभी पक्ष अछूते रह जाते हैं। जिस एक पक्ष का चित्रण कहानी में होता है, वह चरित्र के मुख्यतम गुण विशेप का द्योतक होता है और लेखक सक्षेप में ही उसका सुन्दरतम चित्र खीचता है।"

इस प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियो के चरित्र प्राय सभी प्रकार-विशेप के अन्तर्गत आ जाते हैं और आत्म-त्याग, वीरता, प्रेम, कायरता इत्यादि विशिष्ट गुणो अथवा अवगुणो के प्रतीक स्वरूप होते हैं। सच तो यह है कि कहानी के

सीमित स्थान में व्यक्तिगत चरित्रो का चित्रण सम्भव ही नही है, क्योकि किसी चरित्र का व्यक्तीकरण करने के लिए लेखक को उस चरित्र के उन विशेष गुणो को दिखाना चाहिए, जिनसे वह अपने समुदाय के व्यक्तियो से पृथक किया जा सके और उन विशेप गुणो को दिखाने के लिए उस चरित्र को कुछ किशेष परि-स्थितियो और प्रसगो में चित्रित करना आवश्यक है, जिसके लिए कहानी में पर्याप्त स्थान नही होता। इसलिए चरित्रो के व्यक्तीकरण के लिए अधिक-से-अधिक लेखक इतना ही कर सकता है कि कही-कही दो-चार अर्थगर्भित वाक्यो द्वारा चरित्र की कुछ विशेषताओ का दिग्दर्शन करा दे। उदाहरण के लिए 'प्रसाद'-रचित 'भिखारिन' ले लीजिए .

"सहसा जैसे उजाला हो गया—एक धवल दाँतो की श्रेणी अपना भोलापन विखेर गई "कुछ हमको दे दो रानी माँ।"

निर्मल ने देखा, "एक चौदह बरस की भिखारिन भीख माँग रही है।" इत्यादि।

(आकाश-दीप, पृ० ७६)

केवल दो लाइन का वर्णन है, परन्तु इन्ही दो लाइनो ने 'प्रसाद' की भिखारिन को अन्य भिखारियो से पृथक कर दिया है। 'धवल दाँतो की श्रेणी' और 'भोलापन के बिखेरने' से ही हम इस व्यक्ति-विशेष को पहचान लेते हैं। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह पता चलेगा कि 'धवल दाँतो की श्रेणी' और 'भोलापन बिखेरने' वाली भिखारिन भी भिखारिनो का प्रतीक स्वरूप ही है, "उसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही है।"

कुछ ऐसी भी चरित्र-प्रधान कहानियाँ हैं जिनमें मुख्य पात्र के चरित्र में सहसा परिवर्तन दिखाया जाता है। अस्तु, 'कौशिक' की 'ताई' नामक कहानी इसका ज्वलन्त उदाहरण है जिसमें रामेश्वरी के चरित्र में सहसा परिवर्तन दिखाया गया है। हिन्दी मे इस ढग की उत्कृष्ट कहानियाँ भी मिलती हैं। प्रेमचन्द इस ढग की कहानी रचने में अत्यन्त कुशल थे। उनकी 'आत्माराम' कहानी मे महादेव सुनार के चरित्र में, तीन सौ मुहरें मिलने के उपरान्त एकाएक परि-वर्तन आ जाता है। वह एक ही रात में उदार-हृदय और दानी मनुष्य बन जाता है।

वातावरण

उपन्यास की भाँति कहानी मे वातावरण का विशद चित्रण करने के लिए स्थान नही होता, फिर भी मानसिक स्थिति की व्याख्या करने के लिए वातावरण

का हल्का-फुल्का चित्रण कर दिया जाता है। वातावरण के द्वारा कहानी में पात्र किसी मुख्य भावना का, जो कथानक के विकास का प्रधान कारण बनती है, उद्घाटन कराकर कहानी को अनुप्राणित किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के 'शतरज के खिलाडी' को लीजिए। लखनऊ के नवाबी काल का विलासमय जीवन इस कहानी का वातावरण बनाता है, परन्तु यह वातावरण ही कथानक के विकास का मूल कारण नही, इसके विकास का कारण तो शतरज खेलने के अपूर्व आनन्द की भावना में निहित है। कहानी के पात्र तो केवल निमित्त मात्र हैं।

हिन्दी में वातावरण-प्रधान कहानियाँ बहुत लिखी गई हैं। जयशकर प्रसाद ने इस ढग की बहुत-सी उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी हैं। विश्वम्भरनाथ जिज्जा की प्रथम कहानी 'परदेशी' वातावरण-प्रधान है। राधिकारमण सिंह जी भी वातावरण-प्रधान कहानी के श्रेष्ठ लेखक थे। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने प्राय सभी कहानियाँ इसी प्रकार की लिखी। उनकी 'प्रेम-परिणय', 'उन्माद', 'योगिनी' इत्यादि कहानियाँ प्रेम की भावना के किसी-न-किसी विशेष पक्ष से अनुप्राणित हैं।

कला की दृष्टि से वातावरण-प्रधान कहानियो का विशेष महत्व है। इसमें लेखक को अपनी कला की काँट-छाँट और तराश दिखाने के लिए उपयुक्त अवसर मिलता है। वह वातावरण के चित्रण और परिपार्श्व (Setting) की अवतारणा मे मनमाना रग भर सकता है, नाद-ध्वनि की व्यजना कर सकता है, काँट-छाँट कर सकता है। वह प्रसाद की भाँति कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि कर सकता है। जैसे

"वन्य-कुसुमो की झालरें सुख-शीतल पवन से विकम्पित होकर चारो ओर झूल रही थी। छोटे-छोटे झरनो की कूल्याएँ कतराती हुई वह रही थी। लता-वितानो से ढँकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचनापूर्ण सुन्दर प्रकोष्ठ बनाती, जिनमें पागल कर देने वाली सुगध की लहरें नृत्य करती थी। स्थान-स्थान पर कुञ्जो और पुष्प-शय्याओ का समारोह, छोटे-छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रो में सुगन्धित मदिरा, भाँति-भाँति के सुस्वादु फल-फूल वाले वृक्षो के झुरमुट, दूध और मधु की नहरो के किनारे गुलाबी वादलो का क्षणिक विश्राम।"

(स्वर्ग के खण्डहर में, 'आकाश-दीप' पृ० ३१-३२)

प्रेमचन्द और सुदर्शन की कला लाक्षणिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है और यथार्थवादी वातावरण का सुन्दर चित्रण कर सकती है। इस प्रकार की कहानियो में कला का विशिष्ट स्थान होता है। कवित्त्वपूर्ण वातावरण, कवित्त्वपूर्ण भावना,

नाटकीयता तथा आदर्शवादी परिस्थितियों की सृष्टि की जाती है। जयशंकर-प्रसाद की कहानियों में ये गुण प्रधान रूप से मिलते हैं। उनकी कला कवित्व-पूर्ण और स्वच्छन्दवादी होने के कारण रोमांचकारी वातावरण प्रस्तुत करने में समर्थ होती है और सुदर्शन अपनी कला द्वारा यथार्थ का सुन्दर चित्रण कर सकते हैं।

उद्देश्य

मनोरंजन के साथ-साथ कहानी का उद्देश्य जीवन-सम्बन्धी कुछ तथ्य देना या मानव-मन का निकट परिचय कराना भी होता है। परन्तु इस उद्देश्य को उपदेशात्मक ढंग से व्यक्त नही किया जाता। उसकी केवल कलात्मक ढंग से व्यंजना ही की जाती है। किन्ही कहानियो में लेखक इस उद्देश्य की स्पष्ट व्यंजना भी कर देता है, जैसे सुदर्शन की 'एलबम' शीर्षक कहानी मे। किन्ही कहानियो में यह उद्देश्य अस्पष्ट रहता है और किन्ही में अन्तिम वाक्य में सूक्ति-रूप में व्यक्त किया जाता है, जिसमे उक्ति चमत्कार के कारण उसमें काव्यत्व आ जाता है। उदाहरण के लिए अज्ञेय जी की 'शत्रु' शीर्षक कहानी का अन्तिम वाक्य उद्धृत किया जा सकता है · "जीवन की सबसे बडी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।'

कहानी का उद्देश्य जीवन-मीमांसा नही है। वह जीवन के प्रति एक दृष्टि-कोण का परिचय देती है। कुछ कहानीकार संसार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं तो कुछ उसमे आमूल परिवर्तन के द्वारा आदर्श की स्थापना चाहते हैं। प्रगतिवादी दृष्टिकोण रखने वाले कहानीकारो की कहानी मे क्रान्ति द्वारा जीवन में परिवर्तन की व्यंजना निहित रहती है।

शैली

भावाभिव्यक्ति की कला को शैली कहते हैं। अच्छी शैली मे भाषा की लक्षणा-व्यंजना आदि सभी शक्तियो का उपयोग किया जाता है और कथन को प्रभावात्मक और पुष्टिकर बनाया जाता है। भाषा की दृष्टि से शैली दो प्रकार की होती है—चलती-फिरती मुहावरेदार शैली तथा अलंकृत संस्कृत-प्रधान शैली। प्रथम शैली का अत्यधिक प्रयोग मुन्शी प्रेमचन्द ने किया है और दूसरी शैली को प्रसाद जी ने अपनाया। चलते-फिरते मुहावरो के प्रयोग तथा लाक्ष-णिक शैली के द्वारा प्रेमचन्द की भाषा में एक उक्ति-चमत्कार मिलता है। इस प्रकार की शैली भावों को चित्र के रूप में प्रकट कर देती है, जिनमे वे (भाव) आसानी से हृदय को ग्राह्य बन जाते हैं।

प्रसाद जी की शैली, सस्कृत के तत्सम शब्दो से भरी होने पर भी, प्रसाद-गुणयुक्त रहती है। सस्कृत के शब्दो का प्रयोग वे इतनी कुशलता से करते हैं कि भाषा में अरोचकता नही आने पाती। उनकी भाषा में प्रवाह है और शब्दो में माधुर्य।

भाषा के अतिरिक्त कथन-कला की दृष्टि से भी शैली के दो भेद किए गए हैं। एक है वर्णनात्मक शैली (Power of description), दूसरी है विवरणात्मक शैली (Power of narration)।

जब कहानीकार को किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन या स्थाई गुण का चित्रण अभीष्ट होता है तो वह वर्णनात्मक शैली अपनाता है। घटना-चक्र और मानसिक अवस्थाओ का चित्रण विवरणात्मक शैली के माध्यम से सफलतापूर्वक किया जाता है। विवरण के द्वारा कहानीकार हमारी उत्सुकता को सदा उद्बुद्ध किए रहता है और कथानक की गति को बनाए रखता है। कहानी की गति में अवरोध आ जाने पर उसमे कृत्रिमता के भाव झलकने लगते हैं। सफल शैलीकार वही लेखक है जो अपनी तीव्र अनुभूतियो को भी गतिशील भाषा में व्यक्त कर सके।

गुलाबराय जी इस बात पर बल देते हैं कि "भाषा के सौष्ठव के साथ-साथ कहानी के मुख्य गुण सगति और प्रभाव की एकता को न भूलना चाहिए। अच्छी कहानी घटनाओ, भावो, विचारो तथा प्रारम्भ, प्रसार और अन्त में अन्विति लाने का प्रयत्न करती है।"

तेरहवाँ अध्याय

आत्मचरित के तत्त्व

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक पोप[1] का कथन है कि और लोग चाहे जो कुछ सोचे या विवाद करें, पर मेरे मत से मानव के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य ही है। सामान्यत. सभी प्रकार के साहित्य में मानव-शक्तियो का अध्ययन अन्तर्निहित रहता है किन्तु मानव-जीवन का विवेचन उसमें परोक्ष और काल्पनिक रीति से देखने को मिलता है । किन्तु आत्मकथा तथा जीवनियो मे जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष और वास्तविक रूप मे देखने को मिलती है ।

उपन्यास और जीवन-चरित्र मे अन्तर

पश्चिम में कई उपन्यास[2] विकर आफ वेकफील्ड, टोनो वगे, डेविड कापर फील्ड आदि जीवनियो की शैली पर लिखे मिलते हैं । हिन्दी में भी किसी-किसी उपन्यासकार ने इस शैली को अपनाया है । लोगो का मत है कि अज्ञेय जी का उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' भी इसी शैली का उपन्यास है। यद्यपि इस प्रकार के उपन्यासो मे व्यक्ति के जीवन की झाँकी कही स्पष्ट, कही धुंधली, कही क्षीण, कही सघन रूप में देखने को मिलती है किन्तु उसमे लेखक की कल्पना का इतना पुट मिला रहता है कि उसे वास्तविक जीवन का लेखा-जोखा नही कह सकते । आत्मकथा या जीवनी में कल्पना और अत्युक्ति की इतनी अल्पमात्रा मिलती है, जितनी आटे में नमक की होती है। उपन्यासकार अपनी कला के वल से ऐसी रचना करता है जिसे पढकर सोचना पडता है कि यह चरित-नायक कौन हो सकता है । उपन्यासकार का मुख्य ध्येय नायक के चरित को कल्पना से अलकृत कर आकर्षक रूप मे पाठको के सामने रखने का होता है और इसके लिए वह जीवन की घटनाओ पर कई ऐसे झीने आवरण चढाता जाता है, जिनसे नायक का रूप सुन्दरतर होकर झाकता रहता है । किन्तु जीवनी-लेखक इस मोह में

---

1. "Let others contend and whatever san,
   The proper study of mankind is man" —A Pope
2. A Vicar of Wakefield—Oliver Goldsmith
   B Tono Bungay—H G Wells.

अधिक नही फँसता। वह आकृति को सुन्दरतर करने के लिए मस्तक को विन्दी से, वक्षस्थल का चदन से, केशो को पुष्प से भले ही सजा दे किन्तु वास्तविक रूप को आवरण से ढकता नही।

उपन्यासकार को अपरिचित होते हुए भी यह गर्व है कि वह चरित्रनायक की नसनस को पहचानता है। किन्तु जीवनी-लेखक अपने नायक के सब भेदो और रहस्यो को जानते हुए भी सर्वज्ञता का दावा नही करता। जीवनीकार चरित्र-नायक की वाह्य और आभ्यन्तरिक स्थितियो का सामञ्जस्य करता हुआ कहता चलता है, क्योकि उपन्यासकार की तरह वाह्य स्थितियो को परिवर्तित करने का अधिकार उसे नही प्राप्त है।

जीवनी और इतिहास

इतिहास मे भी हम व्यक्तियो के जीवन के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करते हैं किन्तु उसका रूप आत्मकथा या जीवन-चरित्र से सर्वथा भिन्न है। इतिहासकार सत्य के बन्धन से इतना बँधा रहता है कि वह इच्छानुसार घटनाओ का ग्रहण या त्याग नही कर सकता। वह देश की पृष्ठभूमि पर घटनाओ का चरित्र-चित्रण करना चाहता है। अथवा दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि अङ्गी देश रहता है, व्यक्ति तो उसका अङ्ग होकर ही आता है। ठीक इसके विपरीत जीवनी में प्रधानता व्यक्ति को मिलती है, देश की घटनाएँ उसकी अनुवर्तिनी होकर आती हैं। यह सम्भव है कि जीवनी से जुडकर किसी सस्था अथवा देश का इतिहास गौण रूप से भले ही आ जाए किन्तु मुख्य लक्ष्य नायक का कार्य-कलाप होता है, देश या सस्था का इतिहास नही।

जीवनी-लेखक के लिए चरित्रनायक की सामान्य से सामान्य बातें भी महत्त्व रखती हैं। वह चरित्र-नायक के खाने-पहनने की रुचि, प्रात काल ईश्वर-वन्दन या भ्रमण आदि का वर्णन उतने ही उल्लास के साथ करता है, जितने उत्साह के साथ इतिहासकार किसी बडे युद्ध या राज-परिवर्तन का वर्णन करता है। इतिहासकार के लिए ऐसी बातें अनावश्यक प्रतीत होती हैं किन्तु जीवनीकार के लिए वे अत्यावश्यक हैं।

हिन्दी मे पिछले पचास वर्षों में आत्मचरित-सम्वन्धी प्रचुर साहित्य प्रस्तुत हुआ है। उसके आधार पर इसकी विभिन्न शैलियो का विवेचन किया जा सकता है। महात्मा गाधी, जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्रप्रसाद, डा० श्यामसुन्दरदास प्रभृति मान्य नेता एव साहित्यकारो की आत्मकथाओ से देश के इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। यद्यपि महात्मा जी की आत्मकथा देश की प्रायः अर्धशताब्दी

का प्रामाणिक इतिहास कहती चलती है तथापि इतिहासकार की दृष्टि से आत्म-कथा इतिहास नही बन सकती। हाँ, इतिहास की पूरक भले ही हो सकती है।

जीवनी का साहित्यिक मूल्य

"जीवनी घटनाओ का अकन नही वरन् चित्रण है, वह साहित्य की विधा है और उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण हैं। वह एक मनुष्य के अन्तर और बाह्य स्वरूप का कलात्मक निरूपण है।"[1]

जीवनीकार और राजदरबार में विरुदावली बखानने वाले कवि में अन्तर होता है। जीवनीकार का उद्देश्य अपने चरित्रनायक का व्यक्तित्व अभिव्यक्त करना होता है किन्तु विरुद्ध बखाननेवाले चारण का उद्देश्य चरित्रनायक के राई समान गुण को सुमेरु के समान विशाल दिखाकर उसकी कृपा का भाजन बनना होता है। जीवनीकार एक चित्रकार के सदृश अपने नायक के व्यक्तित्व की 'कुन्जी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओ का चित्रण करता है।'

चारण कवि अपने आश्रयदाता राजा के गुण को शतगुण और राजा के शत्रु के दुर्गुण को सहस्रगुण दिखाता है किन्तु जीवनीकार अपने चरित्रनायक के शत्रु-मित्र के गुण-दुर्गुण में सन्तुलन कभी बिगडने नही देता। उसका चरित्र-नायक अपने व्यक्तित्व-बल से महान् बनता है, अपनी झूठी प्रशसा और शत्रु की झूठी निन्दा से नही। चारण अपने आश्रयदाता के दोषो को सर्वथा छिपाने का प्रयत्न करेगा किन्तु जीवनीकार सत्य-पथ से कभी विचलित न होगा। यह हो सकता है कि दोष-दर्शन मे उसके हृदय मे सहृदयता की भावना ऐसी हो कि वह यथार्थता की रक्षा करता हुआ चरित्रनायक की दुर्बलताओ का परिहास न करे। जीवनीकार सत्य का पन्ना कभी नही छोडता। वह इस मर्यादा की रक्षा के लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। इस सम्बन्ध मे प० बनारसी दास चतुर्वेदी लिखित कविवर सत्यनारायण की जीवनी का उल्लेख किया जा सकता है।

जीवनीकार का कर्त्तव्य समझाते हुए स्ट्रेची लिखते हैं कि "कोई अनावश्यक बात न आने पाये और न कोई आवश्यक बात छोडी जाय।"

जीवनी की शैली

हम पूर्व कह आए हैं कि चरित्र-लेखक को अपने नायक के काल्पनिक रूप की सृष्टि नही करनी होती, उसे तो केवल एक साँचा तैयार करना पडता है। यही साँचा शैली के नाम से पुकारा जा सकता है। जीवनी-लेखक के पास नायक के सम्बन्ध मे लिखित, अलिखित अथवा विश्वस्त सूत्रो से उपलब्ध तथ्यो को

---

१. बाबू गुलाबराय

सकलित करके ऐसे कौशल से सजाना पडता है कि पाठक के मन में वे सीधे घर कर लें। हेरल्ड निकलसन के अनुसार "जीवनी लिखने के लिए एक विशेष प्रकार के बुद्धि-कौशल की अपेक्षा है।" शैली ही बुद्धि-कौशल की परिचायक होती है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि इस "चरित्रकार का मुख्य लक्ष्य अपने नायक के विषय में सत्य बातो का समाहार करना है, तो उसके लिए सचित सामाग्री में से अपेक्षणीय तथ्यो का सश्लेषण, विश्लेषण, निर्वाचन तथा सस्थापन करना ही प्रधान कर्त्तव्य रह जाता है।"

किन्तु यह कार्य भी सहज नही। चरित्र-लेखक को नायक की घटनाओ के पुज में से अपेक्षित तथ्य को गहण करने और अनपेक्षित को त्यागने में ऐसी बुद्धिमत्ता से काम लेना पडता है कि सामजस्य कही भी बिगडने न पाये और सर्वत्र एकसूत्रता भी बनी रहे। कार्लाइल का कथन है कि एक सफल चरित का लिखना इतना ही कठिन है जितना एक सफल जीवनी का अपने जीवन मे निबाह ले जाना। कुछ विद्वानो का मत है कि चरित्र-लेखक का कार्य इससे भी अधिक दुष्कर है। प्रमाण के लिए यूरोप के प्रसिद्ध जीवन-चरित्रो को उठाकर देखिए, जॉनसन रचित 'लाइफ आफ सेवेज' के पश्चात् दो सौ वर्ष के अन्तर्गत अनेक सफल जीवन बिताने वाले असामान्य व्यक्ति उत्पन्न हो गए किन्तु सफल जीवन के सम्बन्ध में लिखी हुई सफल जीवनियो की सख्या अत्यल्प है।

शैली का महत्त्व सबसे अधिक जीवनियो मे स्पष्ट होकर निखरता है। शैली के ही बल से साधारण-से-साधारण चरित्रनायक की जीवनी भी आकर्षक बन जाती है। बाबू गुलाबराय के अनुसार जीवनी का सफल होना निम्नाकित गुणो पर निर्भर है—(१) चरित्रनायक इतना महान् हो कि श्री रामचन्द्र जी की भाँति उसका चरित्र ही काव्य हो। (२) लेखक की ऐसी महत्ता हो कि उसके पारस-स्पर्श और कलम के जादू से लोहा भी सोना हो जाय। सैमुअल जॉनसन ने बोसवैल का व्यक्तित्व इतना महान् प्रदर्शित किया है कि यह जीवनी आज तक अपना विशेष स्थान रखती है। डा० सूर्यकान्त का मत है कि "आज तक बोसवैल की रचना के काँटे पर ससार की दूसरी जीवनी नही उतर पाई।" उसने अपनी प्रतिभा के द्वारा चरित्र-रचना की एक ऐसी शैली आविष्कृत की जो आज तक आदर्श मानी जाती है। यही शैली पहली कोटि में आती है। दूसरे वर्ग में जॉनसन की लिखी हुई सेवेज की जीवनी की ओर सकेत किया गया है। पहली का चरित्रनायक महान् था, दूसरी का लेखक महान् था। एक तीसरा वर्ग है जिसका चरित्रनायक और लेखक दोनो महान् हैं जैसे गान्धी जी की आत्मकथा, [illegible]ौर और जवाहरलाल के आत्मचरित। यदि एक महान् आत्मा अपने जीवन

के क्रमिक विकास को अपनी ही लेखनी से प्रकट करे तो उसकी महत्ता का कहना ही क्या! गान्धी, टैगोर और जवाहर की आत्मकथा हमारे साहित्य की वह अक्षय निधि है ससार ने जिसका हृदय खोलकर स्वागत किया है।

हिन्दी में जीवन-चरित्र लिखने की परिपाटी अब चल पडी है। हमारे देश के निर्माता नेताओ की जीवनियो का उत्तरोत्तर प्रचार बढता गया है। इनके अतिरिक्त साहित्यिको, वैज्ञानिको और समाज-सुधारको के जीवन-चरित्र भी प्रकाशित हो रहे हैं। स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द आदि महात्माओ की जीवनियो से समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठा है। हिन्दी में जीवन-चरित्र लिखनेवाले यदि 'अपने चरित्रनायक के अन्तर-वाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढग' से करें और 'इस चित्रण में अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखते हुए स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित्र-नायक के गुण-दोपमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली से उद्घाटन' करें तो हमारा जीवन-चरित्र-सम्वन्धी साहित्य भी हमारे गौरव की वस्तु बन जाय।

जीवनियो के प्रकार

जीवनी और आत्मकथा में अन्तर स्पष्ट है। जीवनी का लेखक चरित्र-नायक का मित्र, शिष्य, प्रेमी, भक्त, उपासक या उद्देश्य से सहानुभूति रखने वाला कोई व्यक्ति होता है, किन्तु आत्मकथा चरित्रनायक स्वत लिखता है। आज कल जीवनियो की अनेक शैलियाँ मिलती हैं। 'मालवीय जी के साथ तीस दिन' में मालवीय जी के जीवन के तीस दिनो की ही घटनाएँ नही हैं प्रत्युत उनका जीवन-वृत्त तीस दिन में कहा मिलता है। महात्मा गान्धी की अनेक जीवनियाँ निकली हैं। सबने अपने दृष्टिकोण और अपनी शक्ति के अनुसार उस महापुरुष के जीवन का मूल्याकन किया है। ऐसे जीवनी-लेखको में घनश्यामदास बिडला, प्यारेलाल, महादेव भाई, सुशीला नैयर, श्री मन्नारायण अग्रवाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

सस्मरण के ढग पर भी हिन्दी में जीवनी लिखने की प्रथा चल पडी है। एक और शैली 'इन्टरव्यू' की निकली है, जिसमें 'मैं उनसे मिला' इस शीर्षक से जीवन-चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है।

कलात्मक ढग से लिखी हुई जीवनियो में प० सीताराम चतुर्वेदी लिखित मालवीय जी की जीवनी एक विशेष स्थान रखती है। लाला लाजपतराय की जीवनी भी एक विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर गत वर्ष लिखी गई है। इसके लेखक लालाजी के निकट सम्पर्क में रहने वाले अनुभवी व्यक्ति हैं।

आत्मकथाएँ

हम आत्म-कथा की महत्ता पूर्व लिख चुके हैं। यहाँ इतना और कहना आवश्यक है कि इसकी भी विविध शैलिया हैं। महात्मा गान्धी की 'आत्म-कथा', डा० श्यामसुन्दरदास की 'आत्म-कहानी', सियारामशरण गुप्त के 'बाल्य-स्मृति,' 'झूठ-सच' आदि लेख, निराला जी की 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' की शैली, महादेवी जी के 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ', प० रामनारायण मिश्र की 'यूरोप में छः मास' नामक यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक भी जीवनियो के अन्तर्गत मानी जा सकती है।

जीवनी-साहित्य का इतिहास

ईसा से पूर्व यूनान में 'प्लूटार्क' की जीवनियाँ लिखी गई। तब से यूरोप में जीवनी-साहित्य का विकास होता चला आया है। आज दिन जीवनी लिखने की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं। हिन्दी में सर्व प्रथम 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' और 'भक्तमाल' नामक दो ग्रन्थ मिलते हैं। सस्कृत में अश्वघोष का 'बुद्धचरित' और 'शकर-दिग्विजय' नामक ग्रन्थ भी जीवनी-साहित्य में परिगणित होते हैं। बनारसीदास जैन अकबर के समय विद्यमान थे। उन्होंने 'अर्द्ध कथानक' नामक एक ग्रन्थ लिखा है जिसको उनकी आत्मकथा कह सकते हैं और जिसके द्वारा उस काल की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।

हरिश्चन्द्र युग में प्रतापनारायण मिश्र ने आत्म-कथा लिखने का प्रयत्न किया किन्तु अनेक कारणो से ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। राधाचरण गोस्वामी के आत्मचरित से भारतेन्दु-युग की प्रवृत्ति का पता चलता है।

आधुनिक काल में श्रद्धानन्द जी लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक', परमानन्द जी लिखित, 'आपबीती', वियोगीहरि का 'मेरा जीवन-प्रवाह', जवाहरलाल की 'मेरी कहानी', राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्म-कथा' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

आत्म-सस्मरण

आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की प्रायः आद्योपान्त कहानी लिखता है, किन्तु आत्म-सस्मरण में जीवन के एक खड के सस्मरण लिखता है। आत्म-सस्मरण में जीवन को नई दिशा में मोडनेवाली या औरो के सुनानेवाली घटनाओ का उल्लेख किया जाता है।

इस प्रकार का कार्य आत्मकथा से सरल है। आत्मकथा में अपने जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक व्यक्ति जीवित रहते हैं। उनके साथ सभी प्रकार का

प्रिय-अप्रिय व्यवहार समयानुकूल करना पडता है। अत उन सबको बचाते हुए राग-द्वेष से पृथक् होकर अपनी जीवनी लिखना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है, किन्तु आत्म-सस्मरण में उन्ही घटनाओ का उल्लेख करना होता है जिनको आसानी के साथ सबके सामने रखा जा सकता है।

आत्म-सस्मरण सम्बन्धी लेख प्राय सभी लोग लिख सकते हैं। हिन्दी में इधर इसकी खूब चर्चा चली है। रवि बाबू और शरद बाबू की शैली पर प्रेमचन्द, आचार्य महावीर प्रसाद, आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, वियोगी हरि, इन्द्र विद्यावाचस्पति, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, उदयशकर भट्ट, रामवृक्ष बेनीपुरी प्रभृति अनेक लेखको ने आत्म-सस्मरण लिखने का प्रयास किया है।

चौदहवाँ अध्याय

आलोचना का महत्त्व

समालोचना-शास्त्र का आज कितना महत्त्व है,यह किसी साहित्यिक से छिपा नही। आज, समालोचना और समालोचक के प्रति सबकी आँखे आदर से उभर उठती हैं क्योकि समालोचना-शास्त्र साहित्य-जगत का नियन्ता और इसका शासक है। यह साहित्य को मर्यादित रखने की चेष्टा करता है। साहित्य में अनुशासन लाना इसका धर्म है। कवि की कलाकृति में समाज की आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। आलोचक निष्पक्ष दृष्टि से उस रचना को परखता है और उसका मूल्य निर्धारित करता है। प्रत्येक दृष्टि से परिपूर्ण साहित्य ही उच्च-कोटि की श्रेणी प्राप्त करे, यही देखना आलोचक का अभीष्ट है।

समालोचना शब्द का अर्थ ही है—'चारो ओर से भली प्रकार देखना' (सम्+आ+लोचन्+आ)। समीक्षा शब्द का भी यही अभिप्राय है। (सम्+ईक्ष्+आ)। पहले तो साहित्य को देखना या परखना ही कोई साधारण कार्य नही, 'भली प्रकार देखना' तो और भी कठिन है, और 'चारो ओर से भली प्रकार देखना', सचमुच प्रतिभावान् व्यक्तियो का ही कार्य है। इसीलिए पाश्चात्य साहित्य के विद्वान् प्राय इस मत के पोषक हैं कि साहित्यिक समालोचना सबका क्षेत्र नही, केवल मस्तिष्क वाले व्यक्तियो का ही कार्य हैं।[1] बेन जॉन्सन ने स्पष्ट कहा है कि 'कवियो को केवल कवि ही समझ सकते हैं, और सब कवि भी नही, केवल उत्कृष्ट ही।[2]

कवि सर्जनकर्त्ता है। वह कुम्हार की तरह अपने पात्रो को रचता है। ब्रह्मा की तरह ही अपनी एक-सृष्टि बनाता है। अंग्रेजी शब्द 'पोएट' Poet का भी यही अर्थ है। पोएट शब्द के मूल में धातु Poieo है जिसका अर्थ होता है सृजन करना। अत कवि या पोएट का अर्थ होता है—'स्रष्टा'। विधि की चित्र-विचित्र सृष्टि को अपने भावो और अनुभावो द्वारा कवि परखता है और उसके

---

1. Literary criticism is a play of cultured mind

2 To judge of poets is only the faculty of poets, and not of all poets but the best —Ben Jonson

प्रति अपनी प्रतिक्रियायें व्यक्त करता है। गुलाबराय जी के शब्दो मे कवि ससार से उत्पन्न अपनी भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया को प्रकाश मे लाता है। इसके द्वारा वह जग और जीवन की व्याख्या करता है। अग्रेजी के आचार्य-कवि मैथ्यू ऑर्नोल्ड ने भी कहा है कि कविता जीवन की व्याख्या है।[1] अत कवि जीवन के विवेचन के लिए विधि की सृष्टि के अनुरूप, कल्पना द्वारा अपनी एक सृष्टि बनाता है, इसीलिए उसे स्रष्टा कहते हैं।

विधि की सृष्टि को कवि परखता है, कवि की सृष्टि को आलोचक। कवि विधि-सृष्टि की व्याख्या करता है, आलोचक कवि-सृष्टि की। विधि की आनद-मयी सृष्टि को देख कवि प्रसन्न होता है, और भूरि-भूरि प्रशसा करता है, तथा अप्रिय अगो पर नाक-भौंह सिकोडता है और भला-बुरा कहता है। आलोचक भी कवि की प्रशसा-योग्य रचनाओ का बखान करते हुए अघाता नही, और आक्षेप-योग्य अशो पर अपनी अरुचिपूर्ण प्रतिक्रियाएँ व्यक्त किए बिना नही रहता। अत. विधि का निरीक्षक कवि है, कवि का निरीक्षक आलोचक।

परिभाषा

समालोचना का भी अग्रेजी पर्याय क्रिटिसिज्म (Criticism) भी इसी अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उस शब्द के मूल में धातु है क्रिटीज़ (krites) जिसके कई अर्थ हैं—निर्णय करना, छिद्रान्वेषण करना, सौन्दर्य का मूल्याकन करना आदि। अत क्रिटिसिज्म (समालोचना) वह माध्यम है जो ललित कला और विशेषकर साहित्य-कला के सौन्दर्य और दोषो का निर्णय तथा उनका मूल्याकन करता है। इस व्याख्या का अर्थ यह है कि समालोचकका का कर्त्तव्य काव्य के गुण दोषो का विवेचन और जीवन के प्रति इसकी उपयोगिता का मूल्याकन करना है। दूसरे शब्दो में समालोचना मौलिक कृति नही प्रत्युत् अनुकृतिमात्र है। कवि के आधार पर देखी हुई चीज़ को ही दिखाना, अनुभव किये हुए भाव-विचारो को अनुभव कराना है। परन्तु वास्तविकता इससे दूर है।

यह सत्य है कि समालोचना न्याय का विषय है, कल्पना का नही, इसमें तर्क की प्रधानता है, भाव की नही। इनमें मस्तिष्क-पक्ष का अधिक आलम्ब लिया जाता है, हृदय पक्ष का कम और इसके द्वारा सत्य का निरूपण किया जाता है, सभावना का नही। अत समालोचना-शास्त्र 'विज्ञान' की ओर अधिक झुकता है। तार्किकता और विश्लेषण को अपना ... बनाने के कारण यह कला से नाता तोडता हुआ, विज्ञान से सम्बन्ध जोडता मालूम ...ता है।

---

1 Poetry is criticism of life

फिर भी समालोचना का पूर्ण सम्बन्ध 'विज्ञान'से नही। समालोचना तो कला-क्रिया की उपक्रिया है। कवि भाव-प्रधान व्यक्ति होता है। अपने उद्देश्य में कभी-कभी उसे ध्यान नही रहता कि वह क्या कर रहा है। प्रसादजी की कतिपय गूढ पक्तियो का अर्थ जब एक मान्य विद्वान् द्वारा स्पष्ट न हुआ तो उन्होने स्वय प्रसादजी से ही उसका अर्थ पूछा। उस समय प्रसादजी को कहना पडा था, भाई मैं भावोद्वेग के समय में इन्हे लिख गया हूँ। अब मैं भी ठीक तरह नही बता सकता, अब यह कार्य आप लोगो का है। इससे स्पष्ट होता है कि काव्य में अनेक गूढ स्थल होते हैं जिनका रहस्य साधारण पाठको के वश की बात नही। उनकी अस्पष्टता से अध्ययन की गति में बाधा पडती है, रसानुभूति मे विघ्न पडने लगता है और पाठक झु झलाने लगता है, तभी समालोचना-शास्त्र काव्य के रहस्यो को, उसकी गुत्थियो को सुलझने का कार्य अपने हाथो लेता है। इसी दृष्टि से कि पाठक की रसानुभूति में बाधा न हो। देर की माथापच्ची के बाद भी जब अर्थ की गूढता टस से मस नही होती, और सहसा पाठक की दृष्टि समालोचना की उन पक्तियो पर जा पडती, जिनमें उनकी पोल खोल दी गयी होती है, तो पाठक के हर्ष का ठिकाना नही रहता। वह अपने को कवि पर जयी, और आलोचक को अपना मित्र और गुरु मानने लगता है। अत समालोचना का कर्त्तव्य पाठक की आनन्दनुभूति स्थिर रखना होता है। यदि कविता का अर्थ ही स्पष्ट न होगा, तो उससे वह शिक्षा कैसे ग्रहण करेगा। जॉनड्राइडन के मत के अनुसार काव्य का गर्भ है 'प्रसादन' और प्रबोधन, अतः काव्य को सुबोध बनाकर समालोचना-शास्त्र 'प्रसादन' के साथ-साथ कला के दूसरे ध्येय 'प्रबोधन' को भी आत्मसात् कर लेता है।[1] अतः समालोचना 'कला' है।

यद्यपि समालोचना में मनन की प्रधानता होती है फिर भी काव्य का प्रतिपाद्य हृदय होता है। काव्य की गुत्थियो को सुलझाते हुए समालोचना द्वारा हृदय-पक्ष का कभी परित्याग नही होता। हृदय के साथ-साथ ही उसकी गति होती है। अतः समालोचना-शास्त्र स्वरूप से 'विज्ञान' है, आत्मा से 'कला'। यह दोनो का मध्यम मार्ग है। तार्किक और विश्लेषणात्मक होने के नाते यह विज्ञान का अग बन जाता है, परन्तु आनन्द और ज्ञान में सयोजक होने के नाते, तथा हृदय-पक्ष को साथ-साथ रखने के कारण यह कला का अश है। समालोचना 'विज्ञान' और 'कला' का अद्भुत समन्वय है। अत विज्ञान के नाते आलोचक पारखी है, कला के नाते स्रष्टा।

1—The aim of all fine arts is to delight and in this way to 'instruct' —John Dryadn

समालोचक के गुण

A perfect judge will read each work of wit,
With the same spirit that is author writ

—Alexeander Pope (Essay on criticism)

ऐलेक्जेन्डर पोप ने आलोचक के अपेक्षित गुणो की चर्चा करते हुए एक महत्त्वपूर्ण पद्य-बन्ध प्रबन्ध 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' (Essay on criticism) लिखा है। अंग्रेजी साहित्य के लिए ही नही, वरन् समग्र देशो के समालोचना-शास्त्र के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। यद्यपि समय-समय पर आलोचको के गुणो की चर्चा होती रही है, पर इतने व्यवस्थित ढग से और विस्तार के साथ किसी अन्य ने प्रयत्न नही किया। सक्षेप में उन गुणो को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

(क) काव्य की आत्मा में प्रवेश . आलोचक का सबसे प्रधान गुण कवि या काव्य की आत्मा में प्रवेश करने की उसकी क्षमता है। उपर्युक्त उद्धृत पक्तियो का यही आशय है कि जिस भाव-भगी, मुद्रा और तन्मयता के साथ कवि ने अपने काव्य की रचना की थी, उसमें प्रवेश कर जाने वाला पाठक ही उस कवि का सच्चा आलोचक हो सकता है।

(ख) सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन : इसके लिए आवश्यक है कि कवि के सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन किया जाय। काव्य के अग विशेष के अध्ययन पर ही आलोचक को अपनी धारणा नही बना लेनी चाहिए। कुछ बातें घटनाओ और पात्रो के प्रसग में वह ऐसी भी कह सकता है जो उसे स्वय मान्य नही। इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि वही उसका मत है। सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन न करने मे कवि को परखने में त्रुटि हो सकती है।

(ग) कवि के ध्येय की परख . इसलिए कवि का क्या ध्येय है, इस पर पहले ही दृष्टि रखनी चाहिए। उसके लक्ष्य और मन्तव्य को पूरी तरह ग्रहण करने के बाद ही अपनी आलोचना अग्रसारित करनी चाहिए।

(घ) शास्त्रीय आलोचना ही पूर्ण नहीं : आलोचना के निर्धारित नियमो के अनुसार ही समीक्षा करना अपेक्षित नही। यह आलोचना पूर्ण आलोचना नहीं हो सकती। वास्तविक समीक्षा तो वह है, जो पाठक की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओ (Reaction) को स्थान देती है।[1]

(ङ) नूतनता ही कला की कसौटी नहीं . लेकिन नवीन मत देना ही सच्ची आलोचना नही। किसी निश्चित मत का विरोध करके अपना नया मत देना ही

1. Judge independently, not by precedent.

अपेक्षित नही। उसमें तत्व होना चाहिए। वह तथ्य पर आधारित होना चाहिए। उसमें अपनी ही सच्ची अनुभूति की पृष्ठभूमि हो—यह आवश्यक है। इसीलिए कहा गया है कि (Novelty is no test of true art.) नूतनता ही कला की कसौटी नही।

(च) दलगत भावना का त्याग · आलोचना सदा कवि के कृतित्व को आधार मानकर होनी चाहिए, न कि केवल उसके व्यक्तित्व को। प्राय देखने में आता है कि साहित्यिक वर्ग-विशेषो मे बँट जाया करते हैं और वे कवि की कृति से प्रभावित होकर नही, वरन् दलगत भावनाओ से प्रेरित होकर आलोचना करते हैं। ऐसे आलोचक अश्लाघ्य ही नही, घृण्य भी हैं।

(छ) अहम्मन्यता का निषेध : सच्ची समीक्षा के लिए आलोचक में अहम्मन्यता का निषेध होना जरूरी है। इसीलिए पोप ने कहा है कि समीक्षा मे अपने 'अहम्' को स्थान न दो।[1] अपनी इच्छाओ और भावनाओ को प्रदर्शित करने का प्रयास न किया जाय तो अच्छा। प्राय आलोचना के समय विद्वान् अपने कार्या-कार्य (Do's & Dont's) को ध्यान में रखकर कवि की आलोचना करते हैं। इससे भ्रान्ति की आशका हो सकती है। ससार में कार्याकार्य का मानदण्ड देश, काल, समाज और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न होता है। उसके कार्याकार्य सबके कार्याकार्य नही हो सकते। इसलिये अहम्मन्यता का निषेध आवश्यक है।

(ज) भाषा ही मानदण्ड नहीं—भाषा के लालित्य को ही समीक्षा का मानदण्ड नही मानना चाहिए। यद्यपि इसपर भी विचार आवश्यक है। उदात्त भाव अपने-आप उत्कृष्ट भाषा बना लेते हैं। भाषा वही है जो भावो को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सके। ललित और भारी-भरकम शब्दो का प्रयोग ही अच्छी भाषा के लक्षण नही। अत उनके लोभ में न आना चाहिए। यदि विचार स्पष्ट होगे, तो भाषा अपने-आप सुन्दर और ललित होगी। इस बात का समीक्षक को ध्यान रखना चाहिए कि विचारो की स्पष्टता पहले हो, भाषा का सौन्दर्य बाद मे।

तार्किकता और संगति—आलोचना में सगति (Consistency) का होना परम आवश्यक है। समीक्षक के मत में तार्किकता होनी चाहिए। उसे सदा ध्यान रखना चाहिए कि आदि से अत तक उसके मत का खडन हो रहा है अथवा नही। इसके साथ ही साथ उसे अत्युक्तिपूर्ण वचनो से बचना चाहिए। सर्वोत्तम, उच्चतम आदि अतिशयतापूर्ण शब्दो का यथासभव निषेध करना

---

1. Avoid pride, eliminate malice and self-love

चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समीक्षक में गहन अध्ययन हो, ज्ञान हो, न्याय हो और वह सदा 'सत्य' का ही पक्ष ले।[1]

समीक्षा की प्रणालियाँ

प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियो को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ओर लगभग समान प्रणालियाँ अपनायी गयी हैं। चाहे उनका प्रयोग स्वायत्त हुआ हो अथवा अनुकरणवश, पर यह सत्य है कि हमारे यहाँ समालोचना की प्रचलित प्रणालियाँ यूरोप में प्रचलित प्रणालियो से कम नही यद्यपि उनका भण्डार अभी रिक्त-सा ही है। उन्हे निम्न कोटियो में विभक्त किया जा सकता है।

शास्त्रीय आलोचना—(Academic-Criticism) इस प्रकार की आलोचना में शास्त्रीय नियमो के आधार पर काव्य के गुण-दोषो की छान-बीन की जाती है। काव्य के विविध उपकरण अलकार, गुण, वृत्ति, रस आदि का विवेचन किया जाता है। अपने मतो के समर्थन में भूतपूर्व विद्वानो के मत का उद्धरण दिया जाता है। इसके द्वारा मूलत क्षास्त्र-अनुमोदित नियमो का ही पालन किया जाता है। भारतीय साहित्य में आलोचना की शास्त्रीय प्रणाली अधिक प्रयोग में आती रही है। परतु धीरे-धीरे इसका स्थान आधुनिक वैज्ञानिक प्रणालियाँ ले रही हैं। फिर भी इसका अपना अस्तित्व है, अपना महत्व है। उदाहरण के लिए मतिराम का एक पद्य है। जिसकी आलोचना प० कृष्णविहारी मिश्र ने शास्त्रीय ढग से की है—

> **वसंत तरगिनी में तीर ही तरल आय,**
> **ग्रस्यो ग्राह पाँव खेचि पानी बीच तरज्यों।**
> **करनो कलम करें कलपना कूल ठाड़े,**
> **कहा भयो कहा, करुना के सग लरज्यो।।**
> **कठिन समय विचारि साहब सों गयो हारि,**
> **हठि पगध्यान रघुनाथ ज्यो ही सरज्यो।**
> **असरन-सरन विरद की परज देख्यो,**
> **पहले गरज भई,पीछे गज गरज्यो।।**

आलोचना .

अलकार:—कुल छन्द में मुख्य अलकार चचलातिशयोक्ति है।

---

1 "It is not enough that a critic has judgement and learning **He should also have truth in him."**

गुणः—प्रसाद मुख्य गुण है। परन्तु कभी-कभी ओज गुण का भी आभास होता है।

वृत्तिः—उपर्युक्त पद में मधुरा और परुषा वृत्ति का मिश्रण है। इस कारण यह प्रौढा वृत्ति है। इसी का नाम सात्वती वृत्ति भी है।

रसः—यह वीर रस का दया-वीर रस नामक रूपान्तर है।

इस प्रकार की आलोचना शास्त्रीय आलोचना कहलाती है।

व्याख्यात्मक आलोचनाः—(Method of Appreciation) इस पद्धति में आलोचक कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करता है। उसके भावो को सम्यक् समझने की कोशिश करता है। उसके बाद अपनी आलोचना में पाठको को समझाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह पारखी ही नही, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्रष्टा भी बन जाता है। तुलसीदास जी का काव्य-कौशल बतलाते हुए आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं।

"शील और शक्ति से अलग अकेले सौंदर्य का प्रभाव देखना हो तो वन जाते हुए राम-जानकी को देखने पर ग्राम-बधुओ की दशा देखिये।

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी-सी भौंहे।
तून, सरासर, बान धरे, तुलसी बन मारग में सुचि सोहे॥
सादर बारहिबार सुभाय, चितै तुम त्यों हमरो मन मोहे।
पूछति ग्राम वधू सिय सो "कहो सांवरे से, सखि, रावरे को हैं?"

"चितै तुम त्यों हमरो मन मोहें" कैसा भाव-गर्भित वाक्य है। इसमें एक ओर तो राम के आचरण की पवित्रता और दूसरी ओर ग्राम-वनिताओ के प्रेम-भाव की पवित्रता दोनो एक साथ झलकती हैं। राम सीता की ओर देखते हैं, उन स्त्रियो की ओर नही। उन स्त्रियो की ओर ताकते तो वे कहती कि **"चितै हम त्यों हमरो मन मोहें"**। उनके मोहित होने को हम कुछ-कुछ कृष्ण की चितवन पर गोपियो के मोहित होने के समान ही समझते हैं। अत 'हम' के स्थान पर इस 'तुम' शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे 'असगति' का ही चमत्कार देख सतोष कर ले, पर इसके भीतर जो पवित्र भाव-व्यजना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है।"

तुलनात्मक आलोचना—(Comparative Criticism) इस प्रकार की आलोचना में दो या दो से अधिक कवियो की तुलना के द्वारा उनके काव्यगत गुणो व दोषो का विवेचन किया जाता है। कभी-कभी एक कवि की ही विभिन्न रचनाओ की तुलना की जाती है। कई कवियो की तुलना का उत्कृष्ट उदाहरण है। आचार्य शुक्लजी ने भक्त-प्रवर तुलसीदासजी का महत्व दिखलाते हुए लिखा है—

"केशव, विहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिए रखना उनका अपमान करना है। केशव में हृदय का तो कही पता नही। वह प्रवन्ध-पटुता भी उनमें नाम को नही जिससे कथानक का सम्वन्ध-निर्वाह होता है। उनकी राम-चन्द्रिका फुटकर पद्यो का सग्रह-सी जान पडती है। वीरसिंहदेव-चरित्र मे उन्होने अपनी हृदय-हीनता की ही नही, प्रवन्ध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। विहारी रीति-ग्रथो के सहारे जवरदस्ती जगह निकाल-निकालकर दोहो के भीतर शृङ्गार रस के विभाव-अनुभाव और सचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेमस्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदास जी। जव तक हिंदी साहित्य और हिन्दी भाषी हैं, तव तक सूर और तुलसी का जोडा अमर है। पर भाव और भाषा दोनो के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने 'यमक' के लोभ से यह दोहा कह डाला कि 'सूरसूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास'। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सवसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिंदी का सवसे वडा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कठ, भक्त-चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास।"

दो कवियो की तुलना करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—"सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारो ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नही। ससार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातो की ओर उन्होने ध्यान नही दिया है। तुलसीदासजी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके वीच पैदा होनेवाली बुराइयो को तीव्र दृष्टि से देखने वाले थे। जिस प्रकार उन्होने अपने समय की जनता की दुख-दशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोक-मर्यादा के ह्रास मे सहायता पहुँचाने वाली प्रच्छन्न शक्तियो को भी पहचाना है।"

शुक्ल जी ने बडी सूक्ष्म-दृष्टि से इन कवियो को देखा है। कितनी स्पष्टता से वे उनके अन्तर को समझाते हैं, ध्यान देने योग्य है। अग्रेजी साहित्य मे तुलनात्मक समालोचना के अनुमोदक प्रो० सेन्ट्सवरी हैं। उनका मत है, "कवियो का तुलनात्मक अध्ययन ही उनकी सर्वोच्च आलोचना है।"[1]

ऐतिहासिक आलोचना—इस आलोचना द्वारा कवि की कृति के पीछे जुटे हुए

---

1. "Comparative mode of criticism is the highest mode of judgment.

इतिहास की शोध की जाती है। यह पता लगाया जाता है कि जिस समय कवि अपनी रचना कर रहा था, उस समय समाज की कैसी व्यवस्था थी, स्वय उसकी परिस्थिति कैसी थी। प्रचलित मत के अनुसार कि साहित्य समाज का प्रतिविम्ब होता है, ये आलोचक साहित्य द्वारा समाज के समकालीन इतिहास को ढूंढते हुए कवि के मस्तिष्क पर उसका प्रभाव आँकते हैं। यूरोप में आलोचको का एक वर्ग तो यहाँ तक मानता है कि साहित्य कतिपय सामाजिक शक्तियो और परिस्थितियो के सघर्ष का परिणाम मात्र है।[1] लेकिन यह मत अत्युक्तिपूर्ण है। यह सत्य है कि साहित्य समकालीन इतिहास से सयुक्त है। उसे जाने विना साहित्य के मूल्याकन मे भ्रान्ति हो सकती है। फिर भी साहित्य समाज-शास्त्र नही, साहित्य, इतिहास ही नही, इन दोनो से ऊपर की वस्तु है। १६वी शताब्दि के मान्य अग्रजी आलोचक मैथ्यू आॅर्नोल्ड ने उपर्युक्त मत का खडन करते हुए लिखा कि साहित्य उन विषयो को नही अपनाता जो अतीत हैं, वरन् उनको अपनाता है जो शाश्वत हैं।"[2]

अत. साहित्य का सम्बन्ध शाश्वत, सनातन विषयो से है। उसके विषय तो वही रहते हैं जो भूत में थे, वर्तमान में हैं, और भविष्य में होगे। पर उन्हे कवि परखता है अपनी ही दृष्टि से, जो उसके युग से प्रभावित होती है। अत वह समकालीन इतिहास से मुक्ति नही पा सकता, उससे आविर्भूत भले न हो। इसलिए ऐतिहासिक समालोचना को सब देशो के साहित्यो में स्थान मिला है। मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' की ऐतिहासिकता प्रमाणित करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—

"पहली बात तो यह है कि जायसी ने जो 'रत्नसेन' नाम दिया है, वह उनका कल्पित नही है, क्योकि प्राय उनके सम-सामयिक या थोडे ही पीछे के ग्रन्थ 'आइने अकबरी' मे ही यही नाम आया था। यह नाम अवश्य इतिहासज्ञो में प्रसिद्ध था। जायसी को इतिहास की जानकारी थी। ··दूसरी बात यह है कि जायसी ने रत्नसेन का मुसलमानो के हाथ से मारा जाना न लिखकर जो देवपाल के साथ द्वद्वयुद्ध मे कुभलनेरगढ के नीचे मारा जाना लिखा है, उसका आधार शायद विश्वासघाती के साथ बादशाह से मिलने जाने वाला वह प्रवाद हो, जिसका उल्लेख आइने-अकबरी-कार ने किया है।

---

1 Literature is nothing more than the result of certain social forces

2 Literature is not concerned with the things as they have been, but with things as they are —Matthew Arnold.

निर्णयात्मक आलोचना—(Judicial Criticism) इस प्रकार की आलोचना में कवि न्यायाधीश का कार्य करता है। वह निर्णय करता है कि साहित्य में किस कवि का क्या स्थान है। इसमें आलोचक अपने ही ऊपर पड़े हुए प्रभावों को आलोचना का आधार बनाता है। इसमें आलोचक मजिस्ट्रेट की भाँति न्याय-आसन पर बैठता है। कवि के गुणों के लिए उचित मान देता और दोषों के लिए उसकी निन्दा करता है। कभी-कभी वह बड़ा क्रूर हो जाता है और कड़ा दण्ड भी देता है। निर्णयात्मक आलोचना के लिए अंग्रेजी-साहित्य में डॉ० जॉन्सन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

डा० ग्रियर्सन ने बिहारी के विषय में लिखा है, "बिहारी को भारत का थाम्सन कहा जाता है किन्तु मेरी धारणा है कि न तो वह, न उनके भाई-बन्धु किसी दूसरे भारतीय कवि की तुलना पश्चिम के किसी कवि से ठीक-ठीक की जा सकती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ यूरोप की किसी भी भाषा में बिहारी के जोड़ का कवि दूसरा नहीं।[1] बिहारी के सम्बन्ध में एक आलोचक का मत है—

"जिस कवि की कविता तीन सौ वर्षों से लोगों को काव्यानन्द देती चली आ रही है, जिसकी वाग्धारा नाना प्रकार के विप्लवों के युग की अशान्त परिस्थिति को चीरती हुई अब भी ज्यों-की-त्यों रसिकों को स्नान कराने के लिए बह रही है, जिसकी कविता से बूड़नेवाले तो पार लग सके पर जो ऊपर ही हाथ-पैर फेंकते रहे, वे डूब गए, उस अमर कवि की वाणी साहित्य से रुचि रखने वालों को तब तक आनन्द देती रहेगी जब तक कि भारत रहेगा, हिन्दी का अस्तित्व रहेगा, ऐसा विश्वास है। बिहारी का यश अजर और अमर है, उस रस-सिद्धि कवि की वाणी धन्य है—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यश.काये जरामरणजं भयम्।"

मनोवैज्ञानिक आलोचना—(Psychological Criticism) इस आलोचना का सूत्रपात फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त (Psycho-analysis) के आधार पर हुआ है। फ्रॉयड ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सहारे यह

---

1 Bihari has been called the Thomson of India, but I do not think that either he or any of his brother poets of Hindustan can be usefully compared with any western poet I know nothing like his verses in any European language

—Dr. Grierson.

मत प्रतिपादित किया कि "साहित्य अतृप्त वासनाओ की तृप्ति का साधन है।" उन्होने सूक्ष्म निरीक्षण से देखा कि अपनी सहजात प्रवृत्ति से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष मिलना चाहते हैं। मनुष्य की इन समस्त प्रवृत्तियो में सुख-सम्भोग की प्रवृत्ति सबसे बढकर प्रचण्ड एव उद्दाम होती है। किन्तु मनुष्य ने भोग के साथ सयम का महान आदर्श ग्रहण किया है। उससे सदा उसकी सौन्दर्यानुभूति स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवर्तित हुई है। यह सौन्दर्यानुभूति जब उसके अन्तर के रस से सिक्त होकर आत्म-प्रकाश के लिए आकुल हो उठती है, तभी साहित्य, शिल्प आदि ललित कलाओ की सृष्टि सभव होती है।

फ्रॉयड् के अनुसार सौन्दर्यबोध एव उसकी रसपिपासा के मूल में उसकी भोगकामना अन्तर्निहित रहती है। उसमे उसकी दमित भोगकामना का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य परिलक्षित होता है। फ्रॉयड् का अनुसरण करने वाला अब प्रत्येक देश मे एक आलोचक-दल प्रस्तुत हो गया है। ऐतिहासिक समीक्षा में तो कवि पर ऐतिहासिक परिस्थिति का प्रभाव ढूढा जाता है पर मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कवि के वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आन्तरिक और निजी जीवन की अनुभूतियो में उसकी कृति का मूल ढूंढा जाता है। यूरोप में इस प्रणाली का काफी प्रचार और प्रसार हो चुका है। हिन्दी साहित्य में इसका अनुशीलन प्रारम्भ हो गया है। प० नन्ददुलारे वाजपेयी का मनोवैज्ञानिक समीक्षा सम्बन्धी यह एक उत्तम उदाहरण है।

"व्यक्तिमुखी पात्र लेखक की निजी मनोवैज्ञानिक आसक्तियो के परिणाम होते हैं। आज के मनोविश्लेषक उपन्यासकार वस्तुमुखी दृष्टि का उपयोग करते हैं। इससे एक लाभ यह होता है कि पात्रो का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख आ जाता है। · · जैनेन्द्र के पात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मौन, निष्क्रिय और कुण्ठा-ग्रस्त होते हैं, यद्यपि ऐसे पात्रो को उन्होने आदर्शवादी चरित्र की रूपरेखा देने का प्रयास किया है। ये पात्र अपनी पत्नियो को प्रत्येक दशा में पूरी छूट देते हैं और इस प्रणाली द्वारा उनके हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा करते हैं।······ मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक स्तर पर इन पात्रो में एक प्रकार की अन्तर्निहित कुण्ठा भी रहा करती है, जो उन्हे सामाजिक भूमि पर एकदम निष्क्रिय बना देती है। पत्नी को प्रभावित करना तो दूर, ये पात्र अनेक अवसरो पर पत्नी की कठपुतली-से बन जाते हैं।"

सैद्धान्तिक समीक्षा (Theoretical Criticism) : समालोचना की यह प्रणाली समीक्षा के सिद्धान्त बनाने से सम्बन्ध रखती है। इसके अन्तर्गत आलोचक अपनी बुद्धि, मनीषा और प्रतिभा के आधार पर समीक्षा करने के

लिए सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है। यहाँ पर आलोचक मूल रूप में विचारक होता है। उसमें चिन्तन की प्रधानता होती है। इसीलिए समालोचना को साहित्य-शास्त्र का दर्शन (Philosophy) तथा इसके तत्व-विचारक को साहित्यिक दार्शनिक (Literary philosophyer) कहा जाता है। सस्कृत और ग्रीक साहित्य में साहित्यिक दार्शनिको की प्रचुरता रही है। पर हिन्दी साहित्य में इस की वडी कमी है। डॉन्टे, प्लेटो, एरिस्टॉट्ल, लॉन्जिनस, होरेस, क्विन्टिलियन आदि प्राचीन साहित्यिक दार्शनिक हो चुके हैं। उन्होने अपनी-अपनी प्रतिभा से सैद्धान्तिक समीक्षा का निर्माण किया है।

सस्कृत साहित्य में भी ऐसे विचारको का अभाव नही रहा। श्री भरतमुनि पहले साहित्यक-दार्शनिक कहे जा सकते हैं, उनके पश्चात् इन दार्शनिको की एक लम्बी शृखला है। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, वाग्भट, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि उनमें प्रमुख हैं।

अग्रेजी साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा का विकास देर में हुआ है। कोलरिज (Coleridge) और रिचॉर्ड्स प्रख्यात सैद्धान्तिक समीक्षक हैं। श्री रिचॉर्ड्स का 'प्रिन्सिपलस ऑफ लिटेररी क्रिटिसिज्म' वहुत ही मान्य ग्रन्थ है। हिन्दी-साहित्य में भी इस प्रकार के ग्रन्थ १७वी शताब्दी से ही उपलब्ध वताए जाते हैं, पर वे सव सस्कृत-साहित्य के अनुकरण-मात्र हैं। आचार्य केशवदासजी की 'कवि प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' को हम समीक्षा-सिद्धान्त मे प्रथम प्रयास मान सकते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' और आचार्य पण्डित रामचन्द्रशुक्ल जी की 'रस-मीमासा' इस दिशा में स्तुत्य कृतियाँ हैं। प० रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' भी प्रशसनीय है।

प्रगतिवादी समीक्षा

आजकल एक प्रकार की नई समीक्षा-प्रणाली चल पडी है जिसे प्रगतिवादी समीक्षा (Communistic Criticism) कह सकते हैं। इस समालोचना का आधार समाजवादी यथार्थवाद (Socialistic realism) है। रूस में इस समीक्षा-पद्धति का जन्म हुआ है। मैक्सिम गोर्की इसके आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। रूस में यह प्रणाली खूब प्रचलित है। उसी से प्रभावित होकर हिन्दी के आलोचक भी इसे अपनाने लगे हैं। श्री शिवदानसिंह, डॉक्टर रामविलास शर्मा, अज्ञेय जी, भगवतशरण उपाध्याय प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन अलग-अलग प्रणालियो का तात्पर्य यह नही कि वे अपने ही में पूर्ण हैं और अकेले ही उत्कृष्ट समीक्षा का विधान कर सकती हैं। उत्तम समालोचना

के लिए यथास्थान अधिक से अधिक प्रणालियो का समन्वय होना चाहिए। प्रत्येक प्रणाली अपनी-अपनी दृष्टि से काव्य का विवेचन करती है। अत: जितनी अधिक प्रणालियाँ काव्य में लागू हो सकें उतना ही अच्छा, क्योकि इससे अधिकाधिक काव्य का रहस्य खुल सकेगा। अत: समन्वित समीक्षा ही वरणीय है। उत्कृष्ट आलोचना व्यख्यात्मक, शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक आदि मान्य प्रणालियो की समन्विति करने वाली ही हो सकती है जिससे उनमें साहित्य के भाव-पक्ष, कला-पक्ष और लोक-पक्ष तीनो समाहित हो जायँ।

हर्ष की बात है कि ऐसी समीक्षाएँ हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध होने लगी हैं। समन्विति होते हुए भी समीक्षा में आलोचक का विशेष ध्येय मुखर हो ही उठता है। शातिप्रिय द्विवेदी जी की समालोचना में समन्विति होते हुए भी उसमें भावुकता का पुट अधिक रहता है। डा० नगेन्द्र और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा में विश्लेषण और बौद्धिकता का प्राधान्य रहता है। शास्त्रीयता को महत्त्व देने वाले तथा भावपक्ष और लोकपक्ष का सामजस्य करने वालो में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डाक्टर रामकुमार वर्मा, डाक्टर जगन्नाथप्रसाद मिश्र मुख्य हैं। आधुनिक आलोचना में विश्लेषण की प्रवृत्ति बढती जा रही है। डा० नगेन्द्र और प० इलाचन्द जोशी ने इस पद्धति को सफलता-पूर्वक अपनाया है। इस दृष्टि से डा० नगेन्द्र के दो मान्य ग्रन्थ 'विचार और विश्लेषण' तथा 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' सराहनीय हैं।